मीराँबाई

डॉ. सुधाकर अदीब



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

BNP — 1925
8/2/18

41/66

मीराँबाई

डॉ. सुधाकर अदीब

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(स्मृति संरक्षण योजना)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
6, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ
दूरभाष : 0522–2614470, 2614471, 2616464, 2616465
फैक्स : 0522–2616465
ई–मेल: directoruphindi@yahoo.in, वेबसाइट: www.uphindisansthan.in

प्रकाशक :
मनीष शुक्ल
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
लखनऊ

स्मृति संरक्षण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित।

ग्रन्थमाला संख्या–30

प्रथम संस्करण–2017

ISBN : 978-93-82175-89-6

प्रतियाँ : 500

मूल्य : रु. 100=00 (सौ रुपये मात्र)

मुद्रक
प्रकाश पैकेजर्स
257, गोलागंज, लखनऊ

निवेदन

विविधतापूर्ण भारतीय संस्कृति की तरह हिन्दी साहित्य में भी जीवन के विविध रंग प्रारम्भिक काल से ही दिखते रहे हैं। कहीं ओज और विजय को समर्पित रणकौशल की गूंज सुनाई पड़ती है तो कहीं आराध्य को समर्पित भक्ति के विविध रंग। कहीं प्रेम में डूबी हिन्दी कविता अपनी मिसाल आप बन जाती है और आधुनिक काल तक आते–आते शायद ही हिन्दी साहित्य की पहुँच से जीवन का कोई भी छोर बचता हो। साहित्य के आधुनिककाल की यात्रा तो आज भी गतिशील है। ऐसे में अतीत के तीनों प्रमुख काल —— वीरगाथाकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल —— अपनी विविधता और साहित्यिक सौंदर्य के लिए समान रूप से चर्चित हैं परन्तु यदि इनमें भी किसी एक को यदि सर्वोपरि स्थान पर रखना हो तो किसी भी जागरूक हिन्दी सेवी को भक्तिकाल को याद करते देर नहीं लगेगी।

भक्तिकाल का अत्यधिक महत्व कई कारणों से है। सर्वोच्च सत्ता के प्रति समर्पण और आध्यात्म के इतने रंग इस काल में दिखते हैं कि पाठक अभिभूत हुए बिना नहीं रहता। भक्तिकाल में जिस तरह से नानक, रैदास, सूर, कबीर, तुलसी, रसखान, दादू और मीराँबाई जैसे कवियों ने आराधना और आध्यात्मिक चिंतन के साथ–साथ सामाजिक मूल्यों के प्रति भी समाज में आस्था जगाई, उसका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। इनकी असाधारण काव्य प्रतिभा से हिन्दी की विशिष्ट पहचान तो आगे बढ़ी ही, आज से लगभग पाँच सौ साल पहले के अवमूल्यनग्रस्त समय में जनता को भक्ति, मानवमूल्य और सामाजिक विकासक्रम को समझने और उनसे जुड़ने के लिए अभूतपूर्व प्रेरणा भी मिली। इन महान कवियों में मीराँबाई की कविता प्रेरणादायी है। कई सन्दर्भों में मीराँबाई अन्य भक्त कवियों से

बिल्कुल अलग और अकेली खड़ी दिखती हैं। मीराँबाई राजपरिवार से जुड़ी होने के बाद भी सारी सुख–सुविधाएँ त्यागकर अपने आराध्य श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित होती हैं। वह समय–समय पर अनेक कुरीतियों के खिलाफ भी संघर्षरत रहती हैं। एक राजरानी के लिए उस समय में राजस्थान के परम्परागत परिवेश के खिलाफ विद्रोह कितना कठिन रहा होगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

मीराँबाई के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केन्द्रित यह पुस्तक 'मीराँबाई' सुप्रसिद्ध कथाकार डॉ० सुधाकर अदीब ने तैयार की है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान की स्मृति संरक्षण योजना के अन्तर्गत अब तक प्रकाशित विभिन्न प्रमुख साहित्यकारों पर केन्द्रित अनेक पुस्तकों यथा – 'कबीर', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'रामचंद्र शुक्ल', 'राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी', 'चंदबरदाई', 'कविवर सुमित्रानन्दन पंत', 'कथाकार यशपाल', 'सुभद्रा कुमारी चौहान', 'भगवती चरण वर्मा : एक व्यक्तित्व चित्र', 'अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', 'मैथिलीशरण गुप्त', 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी', 'सेनापति', 'गुरुनानक देव', 'लक्ष्मीकांत वर्मा', 'विजय सिंह 'पथिक', 'महादेवी वर्मा', 'राष्ट्रकवि दिनकर', 'सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' आदि का व्यापक स्वागत हुआ है। इस क्रम में यह पुस्तक 'मीराँबाई' भी सराही जायेगी, ऐसी आशा है। जिस तरह से पुस्तक में मीराँबाई के जीवन से लेकर काव्य और सामाजिक सरोकारों से जुड़े अनेकानेक विशिष्ट पहलुओं को सहेजने में विद्वान लेखक को सफलता मिली है, विश्वास है कि शोध छात्रों और विद्वतजनों के बीच इसे पर्याप्त सराहना मिलेगी।

उदय प्रताप सिंह
कार्यकारी अध्यक्ष

प्रकाशकीय

गौरवपूर्ण हिन्दी साहित्य की परम्परा में भक्तिकाल को अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस कालावधि में न केवल हिन्दी साहित्य को विशिष्ट पहचान मिली, अपितु सामाजिक सरोकारों के लिए भी अनेकानेक कवि और साहित्य सेवी पर्याप्त सक्रिय रहे। एक ओर, मानवमूल्यों को सर्वोच्च स्थान मिला तो दूसरी ओर सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध विभिन्न स्तरों पर संघर्ष की उपस्थिति इस कालखण्ड को बिलकुल अलग पहचान देती है। निश्चय ही इस विशिष्ट पहचान में सूर, तुलसी, कबीर, नानक और मीराँबाई जैसे भक्त कवियों का अमूल्य योगदान है।

मीराँबाई ने जिस तरह से राजपरिवार में रह कर भी त्याग, तपस्या और आराध्य के प्रति समर्पण का मार्ग चुना, उसे उनकी कविता में देखना गहरे प्रभावित करता है। 'पानी में मीन पियासी, मोहे सुन–सुन आवत हासी' और 'बसो मोरे नैनन में नंदलाल' जैसी अनेकानेक प्रेरक पंक्तियाँ मीराँबाई को याद करते समय स्वतः ही हम–सबके अवचेतन में अपनी उपस्थिति का अनुभव कराती हैं। जिस समय मीराँ अपने भक्ति गीतों की अप्रतिम छाप समाज पर छोड़ रही थीं, वह समय भारत में मुग़लों के आगमन का भी था। समाज अनेक कुरीतियों से घिरा था और इनके बीच महिलाओं पर अत्याचार चरम पर थे। उस समय यह लगभग असम्भव था कि राजपरिवार की कोई स्त्री अपने आराध्य के समक्ष भक्तिभाव में निमग्न होकर नृत्य करे मगर भक्तिमयी मीराँ ने ऐसे अनेकानेक प्रतिबंधों के बीच भी चिंतन–मनन और एक प्रकार से सामाजिक विद्रोह पूरी दृढ़ता से किया।

मीराँबाई के इस प्रेरक जीवन और कृतित्व पर केन्द्रित डॉ0 सुधाकर अदीब की यह पुस्तक उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सार्थक शब्द देती है।

विद्वान लेखक और साहित्यकार डॉ0 सुधाकर अदीब ने इस पुस्तक को छः अध्यायों में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं– मीराँबाई का युग, मीराँ का जीवन, मीराँ की काव्य कृतियाँ, मीराँ एक भक्त कवयित्री, मीराँ एक स्वतंत्रचेता स्त्री और मीराँ के सामाजिक सरोकार। परिशिष्ट में सन्दर्भ ग्रंथों, मीराँ के जीवनक्रम और उनकी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख सम्पूर्ण प्रस्तुति को पूर्ण बनाता है।

समर्थ लेखक के प्रति इस अवदान के लिए आभार व्यक्त करते हुए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान अत्यंत गौरवान्वित है। हमारी स्मृति संरक्षण योजना के अन्तर्गत प्रकाशित पुस्तकों की समय–समय पर काफी सराहना हुई है। इस क्रम में अब तक हिन्दी के लगभग ढाई दर्जन साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केन्द्रित पुस्तकों का प्रकाशन हिन्दी संस्थान द्वारा किया गया है। डॉ0 सुधाकर अदीब द्वारा तैयार की गयी पुस्तक 'मीराँबाई' भी उस परम्परा को आगे बढ़ाती है। आशा है, सुधीजनों, जागरूक पाठकों और विद्वतजनों के बीच इस पुस्तक 'मीराँबाई' को भी पर्याप्त सराहना प्राप्त होगी।

मनीष शुक्ल
निदेशक

अनुक्रम

मीराँबाई का युग

भारतीय इतिहास के मध्ययुग में सोलहवीं शताब्दी ईसवी की एक महान विभूति थीं संत कवयित्री मीराँबाई। राजस्थान के मेड़ता में राठौड़ राजपूतों के कुल में जन्मीं और मेवाड़ के सिसोदिया राजपूतों के सुप्रसिद्ध राजकुल में विवाहोपरांत पधार कर चित्तौड़गढ़ में लगभग 16 वर्ष रहने वाली मीराँ ने कालक्रम में अपना स्वयं का इतिहास रचा। एक ऐसा इतिहास जो उस सामंती युग में पुरुषों की सत्ता में एक विद्रोही नारी होने के नाते इतिहास ग्रन्थों में तो दर्ज नहीं किया गया, किन्तु जिसे लोक ने आदर के साथ स्वीकारा और जिनके द्वारा रचित पदों को मुक्त कण्ठ से गाया। जिनके जीवन संघर्ष को विभिन्न भक्तमालों के रचयिताओं ने अपनी भक्त सूची के विवरणों में ससम्मान दर्ज किया। श्रीकृष्ण-भक्ति में निमग्न लोक कल्याण की भावना को हृदय में धारण करने वाली मीराँ ने अपने असाधारण व्यक्तित्व और कृतित्व के द्वारा सत्याग्रह की जिस राह का वरण किया उसके वशीभूत हो उनके समकालीन न सही, परवर्ती इतिहासकारों और काव्यालोचकों ने मीराँ के विषय में गहन छानबीन, अध्ययन इत्यादि द्वारा उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र को पूरी गरिमा के साथ उजागर करने के अन्ततोगत्वा भगीरथ प्रयत्न किए, जो आज भी जारी हैं।

सोलहवीं शताब्दी ईसवी भारत के इतिहास में केन्द्रीय-सत्ता में हुए आमूल परिवर्तन का काल है। यह वह समय था जब दिल्ली-सल्तनत का पतन और मुग़ल-सल्तनत का अभ्युदय हुआ। दिल्ली सल्तनत के लोदी राजवंश ने सन् 1451 ई. से 1526 ई. तक दिल्ली की गद्दी पर राज किया। ये अफगान शासक थे। दिल्ली के सैयद राजवंश के सुल्तान के समय सरहिंद के अफगान सूबेदार बहलोल लोदी ने सन् 1451 में दिल्ली पर कब्जा कर लोदी राजवंश की नींव डाली थी और सन् 1489 तक राज किया था। वह एक अपेक्षाकृत उदार शासक था। बहलोल की मृत्यु के पश्चात उसका पुत्र सिकन्दर लोदी सन 1489 में दिल्ली की गद्दी पर बैठा। उसने

सन् 1517 ई. तक शासन किया। वह एक कुशल योद्धा था। उसने अपने राज में हुए उपद्रवों का सख्ती से दमन किया और दिल्ली सल्तनत का सीमा विस्तार किया। सिकन्दर लोदी ने ही सन 1504 में आगरा नगर की स्थापना कर उसे पहली बार अपनी सैनिक छावनी बनाया, जो आगे चलकर मुगल बादशाहों की राजधानी बना। **यही वह वर्ष था जब मेड़ता, राजस्थान में मीराँबाई का जन्म हुआ।** सिकन्दर लोदी धार्मिक दृष्टि से बहुत कट्टर शासक था। मन्दिरों और मूर्तियों का विध्वंस और हिन्दुओं पर अत्याचार उसका प्रिय व्यसन था। उसी ने मथुरा में कृष्ण जन्मभूमि मन्दिर को ढहाकर वहाँ एक मस्जिद का निर्माण कराया। यमुना घाटों पर हिन्दुओं के स्नान और क्षौर कर्म पर पाबंदी लगा दी। उसके भय से आतंकित होकर अनेक मन्दिरों के पुजारियों ने अपनी देव-मूर्तियों को सुरक्षा की दृष्टि से चुपचाप ज़मीन में गड़वा दिया, इस आशा में कि जब कभी अनुकूल समय आएगा तो मूर्तियों को भूमि से निकालकर पुनः प्राण-प्रतिष्ठा कर देवालयों में पुनर्स्थापित कर उनकी आराधना की जाएगी।

सन् 1517 में सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात उसका युवा पुत्र इब्राहीम लोदी गद्दी पर बैठा। यह दिल्ली सल्तनत तथा लोदी वंश का अन्तिम सुल्तान सिद्ध हुआ। **तब तक मीराँबाई का विवाहोपरांत मेड़ता से चित्तौड़ आगमन हो चुका था।** इब्राहीम लोदी ने राजा विक्रमजीत को परास्त कर ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। यह ऐसी विजय थी जिसे उसका शक्तिशाली पिता सिकंदर लोदी भी नहीं प्राप्त कर सका था। इब्राहीम में उत्साह का तो अतिरेक था, परन्तु एकदम युवा होने के कारण वह अनुभव-शून्य था। उसने मेवाड़ के शक्तिशाली नरेश महाराणा सांगा से अनावश्यक युद्ध करके अपने लिए संकट मोल ले लिया। खतौली व धौलपुर के युद्ध में महाराणा संग्राम सिंह उर्फ सांगा ने इब्राहीम को पराजित कर चन्देरी पर अधिकार कर लिया। अदूरदर्शी इब्राहीम ने अपने अफगान अमीरों को भी अनेक बार सार्वजनिक रूप से अपमानित किया, उनका अपने दरबार में महत्व घटाया, जिससे उसे अपने ही अमीरों के अनेक विद्रोहों का सामना करना पड़ा। धीरे-धीरे इब्राहीम लोदी के राज्य में अव्यवस्था फैलने लगी। इसी समय कुछ अफगान अमीरों और इब्राहीम के शत्रु महाराणा सांगा के आमंत्रण पर काबुल के मुगल शासक बाबर ने इब्राहीम लोदी के राज्य पर आक्रमण कर दिया। पानीपत के मैदान में 21 अप्रैल 1526 ई. को बाबर और इब्राहीम लोदी के बीच आमने-सामने हुए निर्णायक युद्ध

में इब्राहीम परास्त हुआ और लड़ते हुए मारा गया। इसी के साथ उत्तर भारत में मुगल साम्राज्य की नींव पड़ गई। मेवाड़ अधिपति महाराणा सांगा, जिन्होंने यह सोचकर बाबर को भारत आने का निमंत्रण दिया था कि वह इब्राहीम लोदी को अपदस्थ कर अन्य विदेशी लुटेरों की भाँति दिल्ली सल्तनत के खजाने की लूटपाट कर वापस काबुल लौट जाएगा और फिर वह महा पराक्रम से अपने मेवाड़ साम्राज्य का विस्तार दिल्ली, आगरा और उत्तरी भारत में दूर-दूर तक कर देगें, उनका वह दिवास्वप्न धरा का धरा रह गया। बाबर ने पानीपत की विजय के बाद भारत की ही शस्य श्यामला धरती पर बसने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उसका 'बाबरनामा' इस बात का गवाह है। अंततः वही मुग़ल शासक बाबर महाराणा सांगा के भी पराभव का कारण बना।

राजस्थान के वीर राजपूतों का इतिहास जहाँ अपनी अनेक शौर्य-गाथाओं के कारण गौरवशाली है, वहीं सत्ता लिप्सा को लेकर कुछ कलंक-कथाएं भी उसमें अंतर्निहित हैं। उदाहरण के लिए सांगा के ही महाप्रतापी पितामह महाराणा कुम्भा, जो 1433 ई. मे मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठे थे, उनकी नीचतापूर्ण ढंग से हत्या उन्हीं के पाटवी पुत्र उदयसिंह द्वारा सन् 1468 ई. में कर दी गई। उसके बाद पितृहन्ता उदयसिंह मेवाड़ के राज सिंहासन पर बैठा। यद्यपि उदयसिंह उर्फ ऊदा का कलंकपूर्ण शासन मात्र पाँच वर्ष ही चल पाया और इस दौरान वह निरंतर मेवाड़ राज्य के दरबारियों, सामंतों और प्रजा की घृणा का पात्र बना रहा। इस कायर शासक ऊदा के शासनकाल में मेवाड़ का काफी भू-भाग शत्रुओं ने हथिया लिया या यों कहें कि उसने जानबूझकर अपने सामाज्य को छिन्न-भिन्न हो जाने दिया। ऐसी दशा में मेवाड़ के अनेक वफादार सामंत राजदरबार छोड़कर अपने-अपने क्षेत्रों में चले गये। किन्तु लगातार मेवाड़ के गौरव को मिट्टी में मिलता देख मेवाड़ के अनेक पुराने सामन्त अतंतः पुनः एकजुट हुये। उन्होंने एक ओर चालाकी से राणा उदयसिंह के लिए वन में शिकार का प्रबन्ध कर उसे शिकार पर भेज दिया। दूसरी ओर उन्होंने अपनी ससुराल ईडर में रह रहे स्वर्गीय कुम्भा के कनिष्ठ पुत्र रायमल को ईडर से चित्तौड़गढ़ बुलवाया और ऊदा के शिकार पर रहते ही राजगद्दी पर बैठाकर उसका राजतिलक कर दिया। उदयसिंह को जब यह समाचार जंगल में मिला तो उसने अपने मुट्ठी भर संगी-साथियों के साथ चित्तौड़गढ़ पर धावा बोलकर अपना राज-पाट दुबारा पाना चाहा। परन्तु अब मेवाड़ की सेना और सामंत नए राणा रायमल के साथ

थे। अतः ऊदा और उसके साथियों को मार-काटकर राज्य की सीमा से बाहर खदेड़ दिया गया। इसके बाद उदयसिंह ने अपने निर्वासन काल में जहाँ भी शरण चाही उसे निराशा ही हाथ लगी। अंत में वह मेवाड़ के पुराने शत्रु मालवा के सुल्तान गयासुद्दीन के पास सहायता हेतु गया। उसे सहायता मिल जाती उससे पहले प्रकृति ने हस्तक्षेप किया। जब ऊदा सुल्तान मालवा से सन्धि-वार्ता करके आपने शिविर को लौट रहा था तब मार्ग में ही उस पर आकाशीय बिजली गिरी और वह वहीं मर गया। इसके बाद उदयसिंह के नालायक पुत्र सैंसमल और सूरजमल ने भी मेवाड़ की राजगद्दी पर अपना हक जताया और सुल्तान गयासुद्दीन से सहायता मांगी। मेवाड़ के इस शत्रु से सैन्य सहायता ले मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। तब नये मेवाड़ अधिपति राणा रायमल ने भी अपने पिता महाराणा कुम्भा की भाँति इन शत्रुओं का वीरतापूर्वक सामना किया और उन्हें हराकर मेवाड़ राज्य की धरती से बाहर खदेड़ दिया।

इस युद्ध के फलस्वरूप पास पड़ोस के अन्य शत्रु भी राणा रायमल से दब गये और रायमल निर्भयता पूर्वक राज्य करने लगे। इसके बाद भी मालवा का सुल्तान गयासुद्दीन चुप नहीं बैठा। उसके पिता सुल्तान महमूद का अतीत में पांच बार बलशाली महाराणा कुम्भा से युद्ध हुआ था, जिसमें एक बार महमूद गिरफ्तार भी हुआ था और उसे महाराणा की कैद से मुक्त होने के लिए भारी अर्थदण्ड चुकाना पड़ा था। अपने पिता सुल्तान महमूद के अपमान का बदला लेने को उसका यह पुत्र सुल्तान गयासुद्दीन भी छटपटाता रहता था। इसलिए प्रतिशोध के इरादे से उसने दो बार आगे भी मेवाड़ पर आक्रमण किया और दोनो बार राणा रायमल की सेना के हाथों मुँह की खायी। दोनो बार भयंकर मार-काट के बाद पराजित हो सुल्तान मालवा की सेना को मेवाड़ से भागना पड़ा। इस प्रकार राणा रायमल को अपने पिता महाराणा कुम्भा की भाँति मालवा के सुल्तान से तीन युद्ध लड़ने पड़े।

रायमल सुल्तान मालवा से अन्तिम युद्ध में जब स्वयं अपनी सेना का नेतृत्व कर रहे थे तब उस लड़ाई में उनके पुत्र पृथ्वीराज, जयमल और संग्राम सिंह भी शामिल थे। यद्यपि इस सफल युद्ध अभियान में ये तीनों पुत्र अपने पिता राणा रायमल के बड़े सहायक हुए परन्तु आगे चलकर यही तीनों पुत्र उनके लिए सबसे बड़ा सिरदर्द भी साबित हुए। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि दो विभिन्न अवसरों पर ज्येष्ठ पुत्र पृथ्वीराज के होते कनिष्ठ भ्राता संग्राम सिंह के ही राजा बनने की संभावना की भविष्यवाणी सुनकर पृथ्वीराज और जयमल, जिनमें परस्पर बड़ा एका था, संग्राम

सिंह उर्फ सांगा के खून के प्यासे हो गए। वे दोनों भाई सांगा से तलवार लेकर भिड़ गए। अंततः छोटे भाई संग्राम सिंह को अपनी प्राणरक्षा हेतु भागकर छिपकर अनेक वर्षों तक निर्वासित जीवन जीना पड़ा। इधर जब राणा रायमल को पुत्रों के बीच इस ख़ूनी कलह का पता चला तो वे बहुत दुखी और चिंतित हुए। उन्होंने शेष दो पुत्रों पृथ्वीराज और जयमल को चित्तौड़ से निर्वासित कर दिया। कदाचित् यह सोचकर कि जो भाई उत्तराधिकार की महत्वाकांक्षा में अपने ही भाई को मारने को तत्पर हो सकते हैं वे अपने पिता के लिए भविष्य में प्राणघातक नहीं होगे, इसका क्या ठिकाना? जयमल और पृथ्वीराज कुछ वर्ष बाद अपने कतिपय शत्रुओं के हाथों अलग-अलग घटनाओं में मारे गए। उधर अनेक कष्टों को सहते और गुमनाम जीवन जीते संग्राम सिंह के जीवित होने की जानकारी जब उनके पिता राणा रायमल को मिली तो उन्होंने अपने उस उत्तराधिकारी सुपुत्र को सहर्ष चित्तौड़ बुलवाया और अपना पाटवी पुत्र अर्थात् युवराज घोषित किया। इस प्रकार संग्राम सिंह का भाग्योदय हुआ। पिता राणा रायमल की मृत्यु के बाद सन् 1509 ई. में संग्राम सिंह उर्फ सांगा मेवाड़ की गद्दी पर बैठे और उन्होंने सन् 1528 ई. तक शासन किया।

महाराणा सांगा अत्यंत शूरवीर थे। वह राजपूताने में 'हिन्दुवा सूर्य' कहलाते थे। उन्होंने जीवन पर्यन्त मेवाड़ सामाज्य के विस्तार के लिए अनेक युद्ध लड़े और विभिन्न युद्ध अभियानों में अपने शरीर पर 84 घाव सहे। वह एक आँख, एक हाथ और एक टाँग का होने के बावजूद घोड़े की पीठ पर बैठकर अथवा हाथी पर सवार हो शत्रुओं से काल की भाँति जूझते थे। ये वे दिन थे जिन दिनों महाराणा सांगा की कीर्ति का बखान करते हुए राजपूताने के भाट और चारण थकते नहीं थे। उनके रणकौशल के प्रताप के गीत गली-गली में गाये जाते थे, कुछ इस प्रकार जिनका अर्थ हुआ करता था- ''मेवाड़ की सीमाओं पर दिल्ली सुल्तान इब्राहीम लोदी, गुजरात का मुजफ्फर शाह और मालवा का महमूद कोई भी शत्रु आँख उठाकर देख नहीं सकता है, क्योंकि महाराणा सांगा ने तीनों के हाथ पैर बाँध दिए है।'' मेवाड़ के आस-पास के तमाम राजपूत राजा-रजवाड़ों ने पहले ही सांगा की तलवार का लोहा मान लिया था और पराजय मानकर उनका आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार अपने पूर्वजों के साम्राज्य का महाराणा सांगा ने अभूतपूर्व विस्तार किया।

महाराणा सांगा का अंतिम निर्णायक संघर्ष मुग़ल वंश के संस्थापक बाबर के साथ हुआ। यद्यपि शुरुआत में सांगा भारी पड़े और 16 फरवरी 1527 को बयाना

के युद्ध में बाबर की मुगल सेनाओं को सांगा की राजपूत सेना के हाथों पराजय का मुख देखना पड़ा किन्तु एक महीने बाद खानवा के युद्ध में बाबर ने बाजी मारी। खानवा के मैदान में 17 मार्च,1527 ई. को दोनों पक्षों के बीच भीषण युद्ध हुआ। इसमें बाबर की दहाड़ती तोपों और तीरंदाज तुलगमा, आरक्षित फौज कोतल आदि आधुनिक युद्ध-तकनीकी के आगे सांगा के हाथी-घोड़ों और तलवार-भालों से परंपरागत युद्ध लड़ने वाले भारी और जाँबाज राजपूत सैन्यदल परास्त हुए। महाराणा सांगा स्वयं युद्ध में बुरी तरह घायल हुए। उन्हें उसके वफादार साथी किसी तरह युद्धक्षेत्र से बेहोशी की हालत में बचाकर ले गए। बाद में दुर्भाग्यवश 30 जनवरी 1528 ईस्वी को उनके ही कुछ राजपूत सरदारों द्वारा जहर दे दिये जाने के कारण सांगा की अकाल-मृत्यु हो गई।

मीराँबाई उन्हीं महा पराक्रमी महाराणा सांगा की पुत्रवधु थीं। सांगा ही मेड़ता के राजकुल की कन्या मीराँ को अपने ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से सन् 1516 में विवाह कराकर चित्तौड़गढ़ लाए थे। मीराँबाई को वह पुत्रीसम मानते और स्नेह देते थे। परन्तु उनके सुयोग्य पाटवी पुत्र भोजराज की कुछ ही वर्षो बाद सन् 1523 में अकाल-मृत्यु हो जाने के कारण मीराँ को युवाकाल में ही वैधव्य का दुःख झेलना पड़ा। ऐसे में बचपन से कृष्ण-भक्त हो चुकीं मीराँ ने अपनी आगे की सारी दिनचर्या तब कृष्ण-भक्ति को ही समर्पित कर दी। महाप्रतापी श्वसुर सांगा की सन् 1528 में मृत्यु के पश्चात मीराँबाई के मझले देवर रत्न सिंह मेवाड़ के राणा हो चित्तौड़ के राज सिंहासन पर बैठे। वह भोजराज की विमाता संग्राम सिंह अर्थात् सांगा की दूसरी पत्नी धनाबाई राठौड़ी के पुत्र थे। धनाबाई जोधपुर नरेश के राजकुल की कन्या थीं। मीराँबाई भी राठौड़ कुल की एक कन्या थीं। अतः धनाबाई राठौड़ी मीराँबाई को बहुत मानती थीं। राजमाता बनने पर भी उनका मीराँ पर स्नेह यथावत् बना रहा। राणा रत्न सिंह भी अपनी भाभी मीराँबाई का बड़ा आदर करते थे। परन्तु वे अपने दो छोटे सौतेले-भाइयों विक्रमादित्य और उदय सिंह के प्रति मन में वैमनस्य रखते थे।

दरअसल विक्रम और उदय की माता कर्मावती, जो राणा रत्न सिंह की विमाता थीं, महाराणा सांगा की सबसे चहेती पत्नी थीं। रानी कर्मावती ने सांगा से उनके

जीवनकाल में ही रणथम्भौर का किला और उससे जुड़ी हुई जागीरें अपने अल्प-वयस्क पुत्रों कुँवर विक्रमादित्य और कुँवर उदय सिंह के नाम करा ली थीं और दोनो बालकों को अपने सगे भाई बूंदी के हाड़ा सूरजमल अर्थात् उनके मामा के संरक्षण में रणथम्भौर में रखवा दिया था। यही विवादित राज्य-विभाजन भाइयों में वैमनस्य की वास्तविक जड़ था। सांगा की मृत्यु के बाद राणा रत्न सिंह के तीन वर्ष के शासनकाल में सांगा पुत्रगण के मध्य परोक्ष षडयंत्रों का दौर चलता रहा। चित्तौड़ में राणा रत्न सिंह और रणथम्भौर के किले में रानी कर्मावती और उनका ज्येष्ठ पुत्र कुँवर विक्रमादित्य मेवाड़ के शत्रु मुग़ल बादशाह बाबर को एक-दूसरे के विरूद्ध उकसाते रहे। वह तो बाबर अपने राज्य के विद्रोहियों और विभिन्न समस्याओं में उन दिनों इतना उलझा हुआ था कि वह राजस्थान की दिशा का रूख न कर सका। तीन बरस बीतने के बाद आखिर बूंदी के निकट एक जंगल में शिकार के आयोजन में राणा रत्न सिंह और कुँवर विक्रमादित्य के संरक्षक मामा सूरजमल परस्पर भिड़ गए और दोनों ने उसी अवसर पर परस्पर लड़ते-लड़ते एक-दूसरे को अपनी तलवारों से मौत के घाट उतार दिया।

इसके बाद राजमाता कर्मावती का लाडला पुत्र कुँवर विक्रमादित्य चित्तौड़ के राज सिंहासन पर सन् 1531 ई. में बैठा। मेवाड़ के इसी दुष्ट राणा के राज्यारोहण के पश्चात भक्तिमती मीराँबाई पर अन्यायों, दु:ख एवं कष्टों का पहाड़ टूट पड़ा। कूटनीतिज्ञ रानी कर्मावती और उसका यह दुर्बुद्धियुक्त स्वेच्छाचारी बेटा राणा विक्रम किंतु यह भली-भाँति जानते थे कि भले ही मीराँबाई साधु प्रवृत्ति की एक महत्वाकांक्षाविहीन विधवा-स्त्री थी और चित्तौड़ की ससुराल में उसको मान सम्मान देने वाले उसके पति भोजराज, ससुर सांगा और देवर रत्न सिंह सब के सब एक-एक कर स्वर्ग को जा चुके हैं, यहाँ तक कि उसके पिता रतन सिंह राठौड़ भी उसके एक काका के साथ खानवा के युद्ध में बाबर की फौजों से लड़ते हुए मारे जा चुके हैं, किन्तु मेड़तणी मीराँ अपने मेड़ता स्थित पीहर-पक्ष की ओर से अभी भी बहुत मजबूत हैं। मेड़ता में आज भी मीराँबाई के ताऊ सा राव बीरमदेव राज कर रहे थे, और जयमल जैसा योद्धा और परम वैष्णव उनका सुपुत्र भी अभी जीवित था। इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण थी मेड़ता राज्य की मेवाड़ राज्य से बहुत पुरानी सामरिक संधि, जिसके

कारण मेड़ता की सेना सदैव मेवाड़ की सहायता में खड़ी होकर उसके शत्रुओं के खिलाफ लड़ती थी। मीराँबाई पर किसी प्रकार का प्रत्यक्ष आघात न सिर्फ मेड़ता राज्य की मैत्री को खोने का कारण बनता, बल्कि वह मित्रता मीराँ के मान-सम्मान की खातिर शत्रुता में बदलने में भी तनिक देर न लगती। इसीलिए नया राणा विक्रमादित्य अपनी भाभी भक्तिमती मीराँबाई को चाहकर भी सीधे समाप्त करने का दुस्साहस नहीं कर सकता था। परिणास्वरूप मीराँ को अपमानित करने, सर्पदंश और विषपान आदि द्वारा मरवाने के अनेक असफल-षडयंत्र चित्तौड़गढ़ में इस कुटिल सत्ताधीश ने किए। किंतु मीराँ के आराध्य गिरधर गोपाल की कृपा ने कभी भी इस संत-स्त्री का बाल-बाँका नहीं होने दिया।

राणा विक्रम का यह दुष्चक्र दो उद्‌देश्यों से अपने राज्यारोहण के प्रारंभ से ही निरंतर चलता रहा। एक इसलिए कि मीराँबाई की आकस्मिक मृत्यु हो जाए, ताकि उसे दुर्घटना बताकर मेड़तिये राजपूतों के आक्रोश अथवा किसी जन-आन्दोलन से बचा जा सके। दूसरा यह कि ऐसी विपरीत और असहनीय परिस्थितियाँ चित्तौड़गढ़ की चाहरदीवारी के भीतर मीराँबाई के सन्मुख खड़ी कर दी जाएं कि वे स्वयं ही उकताकर चित्तौड़ छोड़कर अपने पीहर चली जाएं।

और ऐसा हुआ भी। अतंतः मीराँबाई को हताश होकर 1532 ई. के आस-पास चित्तौड़ छोड़ देना पड़ा। पहले वे अपने पीहर मेड़ता गईं। फिर वहाँ बनती-बिगड़ती राजनीतिक परिस्थितियों के मध्य मीराँ क्रमशः वृंदावन और फिर द्वारकापुरी चली गईं। परन्तु एक पवित्रात्मा, भक्त हृदया सरल, सज्जन और महान संत-स्त्री पर हुये अत्याचारों के फलस्वरूप कालान्तर में मेवाड़ को भी ऐसे भीषण दुर्दिनों का सामना करना पड़ा, जिसकी कभी कल्पना नहीं की जा सकती थी।

चित्तौड़गढ़ पर, गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने पहला हमला सन् 1532 के आसपास किया था। तब उसने बहुत दिनों तक किले का घेरा डाला हुआ था। मीराँबाई के ताऊ सा राव बीरमदेव मेड़ता से राणा मेवाड़ की सहायतार्थ सेना सहित आये भी। किन्तु रानी कर्मावती ने अपने कायर पुत्र राणा विक्रम की रक्षा हेतु

बहादुरशाह से अपमानजनक संधि करके उसे भारी मात्रा में हीरे-जवाहरात, स्वर्ण मुद्राएं, हाथी-घोड़े इत्यादि देकर चित्तौड़ से गुजरात लौट जाने दिया था। परन्तु मीराँ के चित्तौड़ त्याग के पश्चात् चित्तौड़गढ़ पर सन् 1534-35 ई. में दूसरी बार चढ़ाई कर बहादुरशाह ने अपना कब्जा कर ही लिया और किले को लूटकर मंदिरों-मूर्तियों का वहाँ भारी विध्वंस किया। इस अवसर पर हजारों स्त्रियों के साथ रानी कर्मावती को जौहर की अग्नि में जलकर आत्मबलिदान देना पड़ा। राणा विक्रम और उदय सिंह को गुप्त मार्ग से किला छोड़ना पड़ा।

कालान्तर में राणा विक्रम को अपने पापों का फल भोगते हुए असामान्य-मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा। बनबीर के हाथों उसकी हत्या हुई। यही नहीं भीषण अकाल और महामारी जैसी दैवीय आपदाओं के कारण मेवाड़ की निरीह प्रजा में भी लाखों लोग असमय काल-कवलित हुए। फलतः यह आम धारणा मीराँबाई के चित्तौड़-त्याग के बाद जनमानस में घर कर गई कि भक्तिमती मीराँ का अपमानपूर्ण चित्तौड़ त्याग ही सारी सांसारिक और प्राकृतिक आपदाओं का मूल है।

मीराँ का जीवन

मीराँबाई का जन्म मेड़ता में राठौड़ राजपूतों के एक सुप्रतिष्ठित राजकुल में हुआ था। मेड़ता के शासक राव दूदा जोधावत मीराँ के पितामह थे। कन्या मीराँ अपने दादा राव दूदा की वटवृक्ष सरीखी छाँव में पली-बढ़ीं। राव दूदा परम वैष्णव थे, जिनका जन्म सन् 1440 ई. में हुआ था। वह वीरता और भक्ति के प्रतिरूप थे। मेड़ता नगर उन्होंने ही पुनः बसाया था। उससे जुड़े अपने छोटे से राज्य को राव दूदा ने अपने ख़ून-पसीने से सींचा था। राजस्थान में मेड़ता अजमेर से 78 कि.मी. पश्चिम और जोधपुर से 125 कि.मी. पूर्व में स्थित है।

वस्तुतः मेड़ता एक प्राचीन नगर था। काल के प्रवाह में वह धीरे-धीरे उजाड़ और बियाबान हो गया था। खण्डहरों का एक निर्जन समूह जहाँ सदियों से मनुष्यों ने वास करना छोड़ दिया था। जोधपुर नरेश राव जोधा ने जोधपुर नगर बसाया था। उन्होंने अपने दो पुत्रों बरसिंह तथा दूदा को आज्ञा दी कि वे जाकर मेड़ता को पुनः आबाद करें तथा अपना स्वयं का राज्य स्थापित कर, निज-भविष्य को उज्जवल करें। यह एक कठिन चुनौती थी। दोनों भाई बरसिंह और दूदा तभी सफल होते जब न केवल वे मेड़ता नगर फिर से बसाते, बल्कि उसके आसपास अपना वर्चस्व स्थापित करने और साम्राज्य विस्तार करने हेतु वहाँ के सामंतों-शत्रुओं से भी मुकाबला करते। इसके लिए जोधपुर नरेश राव जोधा ने बहुत सी सेना भी उनके साथ की थी। दोनों भाइयों ने मिलकर आसपास के जंगलों को साफ कराकर फिर से मेड़ता नगर बसाया। जुझारू दूदा ने मालवा के सुल्तान और अजमेर के शासक से मेड़ता के निकट के स्थानों को अपने बाहुबल से विजित किया और इस तरह एक नया राज्य स्थापित किया। दूदा के पराक्रमी बड़े भाई बरसिंह ने भी उन युद्धों में दूदा का बराबर साथ दिया। फिर दोनों ही जियाले राजपूतों ने सन् 1461 ई. में मेड़ता के किले की नींव रखी। कुछ ही वर्षों में मेड़ता के दुर्ग का निर्माण सम्पन्न हुआ। वहाँ उन्होंने एक चतुर्भुजनाथ का मंदिर बनवाया तथा अनेक कूप एवं तालाब खुदवाए।

इसके बाद कुछ अवधि तक दोनों भाई बरसिंह और दूदा साथ रहे। परन्तु छोटे भाई दूदा एक महत्वाकांक्षी युवक थे। उनकी बढ़ती महत्वाकांक्षाओं को देखकर बड़े भाई बरसिंह जोधावत ने उन्हें रायण की जागीर देकर वहाँ रहने भेज दिया। एक छोटी सी जागीर से दूदा भला कहाँ संतुष्ट होते? अतः वह बीकानेर के संस्थापक अपने एक अन्य भाई राव बीका के पास अनमने होकर चले गए। इस प्रकार तब दूदा जोधावत मेड़ता अथवा रायण में न रहकर, बीकानेर निवासी हो गए।

कुछ ही समय बाद मेड़ता नरेश बरसिंह को अजमेर के सूबेदार ने धोखे से जहर दिलवाकर मरवा दिया। उसके बाद बरसिंह का नितांत अयोग्य बेटा सीहा मेड़ता की गद्‌दी पर बैठा। वह घोर शराबी, व्यभिचारी और अकर्मण्य शासक था। सीहा ने समय में मेड़ता राज्य शक्तिहीन होता चला गया। मेड़ता राज्य के शासन-सूत्र ढीले पड़ने के समाचार जोधपुर राज्य तक पहुँचे। जोधपुर में राव जोधा के बाद अब उनका साम्राज्यवादी पुत्र राव सातल सिंहासनारूढ़ था। राव सातल की कुदृष्टि मेड़ता के छोटे से राज्य पर लग गई और वह उसे हड़पने के लिए सैन्य तैयारियाँ करने लगा। इस बात की जानकारी स्वर्गीय बरसिंह की विधवा पत्नी, नालायक सीहा की माता को लग गई। वह एक समझदार स्त्री थी। उसने तब बीकानेर से अपने सुयोग्य देवर दूदा जोधावत को बुलवाया। उसी ने मध्यस्थता कर मेड़ता राज्य की आधी आय अपने देवर दूदा और आधी आय पुत्र सीहा में बँटने का समझौता कराया।

इस प्रकार राव दूदा पहली बार मेड़ता राज्य के आधे भाग के राजा बने। कहने को तो राव दूदा उस समय मेड़ता के आधे-राजा थे, किन्तु राज्य के समस्त शासन-सूत्र उन्हीं के कुशल हाथों में स्थित थे। क्योंकि राव सीहा तो हर समय शराब के नशे में धुत तथा राग रंग में डूबा रहता था। उसे संसार की कोई खबर नहीं थी। यह साझे की विचित्र शासन-व्यवस्था इस तरह दो वर्ष तक ही चल सकी। जब असह्य हो चला तो एक दिन राव दूदा ने नशे में डूबे अपने भतीजे सीहा बरसिंहोत को एक खाट पर सावधानीपूर्वक बंधवा कर अपने कुछ विश्वस्त आदमियों के द्वारा रायण की उसी जागीर में पहुँचा दिया, जो कभी सीहा के बाप बरसिंह ने दूदा को बक्शी थी। सीहा एक अत्यंत भीरू स्वभाव का कमजोर व्यक्ति था ही। उसने अपने शक्तिशाली चाचा राव दूदा से इसका प्रतिकार लेना हितकर नहीं समझा और अपनी शेष ज़िन्दगी रायण में ही पड़े-पड़े काट दी। इसके बाद राव दूदा ने एकछत्र राज किया और अपने शौर्य-बल से मेड़ता राज्य को अत्यंत सुदृढ़ किया।

राव दूदा के पाँच पुत्र थे। उनके नाम थे-बीरमदेव, रायमल, रायसल, रतनसिंह और पंचायण। मीराँ राव दूदा के चौथे पुत्र रतन सिंह दूदावत की पुत्री थीं। मीराँ की माता का नाम कुसुम कुँवरि था। कुसुम कुँवरि के पिता का नाम केलन सिंह टांक था। ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है कि भक्तिमती मीराँ का जन्म सन् 1504 ई. में हुआ था। कुछ विद्वान मीराँ का जन्म स्थान कुड़की बताते हैं, कुछ मेड़ता और कुछ का कहना है कि बाजोली ग्राम में मीराँ का जन्म हुआ। भक्तमाल के रचयिताओं व्याख्याकारों इत्यादि ने प्रारंभ से ही मेड़ता में मीराँ का जन्म होना माना है और अनेक तर्कों एवं इतिहास के तथ्यों से यह निष्कर्ष प्राप्त हो चुका है कि मीराँबाई पुत्री रतन सिंह का जन्म रावदूदा की राजधानी मेड़ता में ही हुआ था।

इसी प्रकार मीराँ का निधनकाल भी एक रहस्यमय एवं विवादित विषय रहा है। किंवदन्ती है कि मीराँबाई अपने द्वारका प्रवास के दौरान रणछोड़ जी के सुप्रसिद्ध मंदिर में अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की मूर्ति में सदेह विलीन हो गईं। उनमें सशरीर समा गईं। यह घटना सन् 1547 ई. के आसपास घटित हुई मानी जाती है। मीराँ की मृत्यु पर पड़े इस रहस्यमय आवरण पर लोगों के अलग-अलग मत हैं। कुछ मीराँ के सदेह हरिमिलन को एक दैवीय चमत्कार मानते और स्वीकारते हैं। कुछ मानते हैं कि मीराँ ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में अपने परिजनों के बुलावे पर, विशेषकर मेवाड़ नरेश देवर राणा उदय सिंह के आमंत्रण को अस्वीकार कर चित्तौड़ वापस जाना उचित नहीं समझा और वे गुजरात से चुपचाप भारत भ्रमण एवं हरिभजन हेतु निकल गईं। और आगे भी लगभग बीस वर्ष और जीवित रहीं। एक मत यह भी है कि जिस सामंती व्यवस्था का विरोध कर मीराँ दीन-दलितों की ओर उन्मुख हो चित्तौड़ से अन्यत्र प्रवास करने लगीं, जिसके दौरान वह कुछ काल वृन्दावन में रहीं फिर अंत में द्वारकापुरी में रहीं, वह उनके विरोधियों को बहुत खला और मीराँ की कतिपय सामंतों द्वारा षडयंत्रपूर्वक हत्या करवा दी गई। मीराँ के जीवन की चर्चा में यह आगे स्पष्ट हो सकेगा।

मीराँ को बालपन से ही अपने दादा राव दूदा और उनके ताऊ सा बीरमदेव का भरपूर प्यार और दुलार मिला। उनके पिता रतन सिंह अधिकतर युद्धों में अथवा मेड़ता राज्य के शासकीय प्रबंधों में व्यस्त रहते थे। उनका एक पैर मेड़ता में होता तो दूसरा कहीं और। अनेक अवसरों पर मेड़ता के राठौड़ वीर मेवाड़ के सिसोदियों की युद्ध में सहायता को निकलते। क्योंकि दोनों राज्यों में बड़ी पुरानी सामरिक मैत्री-संधि थी। पहले युवराज कुँवर बीरमदेव युद्धों में जाया करते। परन्तु जब मीराँ

के पिता रतन सिंह इस योग्य हुए तो वे तथा अन्य भाई युद्ध अभियानों में जाने लगे। बीरमदेव राजकाज की देखभाल में मेड़ता में ही अधिकतर रुकने लगे। राव दूदा ज्यों-ज्यों वृद्ध होते गए उनका अधिक समय भगवान चारभुजानाथ के दर्शन, पूजन और सतसंग में व्यतीत होने लगा। मीराँ का अपने दादा जी के साथ बहुत मन लगता और वह बालपन से हरि-कीर्तन, दर्शन आदि में उनके आगे-पीछे लगी रहतीं।

मीराँ की माँ कुसुम कुँवरि जी भी परम वैष्णव भक्त स्त्री थीं। नित्य पूजन अर्चन में उनका काफी समय बीतता। वह पुत्री मीराँ की प्रथम गुरू थीं। उसे बहुत प्यार करती थीं। उसकी बाल सुलभ जिज्ञासाओं को शांत करतीं। जब मीराँ पाँच बरस की बालिका थीं, एक दिन पड़ोस में एक बारात आई। बारात में उन्होंने एक युवक को दूल्हा बने हाथी पर सवार बैठे देखा। मीराँ ने दासियों से पूछा यह कौन है? वे सब खिलखिलाकर हँस पड़ीं। पुनः पूछने पर मीराँ को बताया गया कि यह लड़का दूल्हा है। नगर सेठ की लड़की से विवाह करने जा रहा है। हर लड़की एक दिन दूल्हन बनती है। तब उसे उसका दूल्हा ब्याह कर अपने घर ले जाता है। मीराँ ने दासियों से अनेक प्रश्न किए। अंत में कहा कि मेरा दूल्हा कौन होगा? इस पर दासियाँ चुप लगा गईं। फिर यही प्रश्न मीराँ ने जाकर अपनी माँ से पूछा। तो वे हँस पड़ीं और मीराँ की गोद में लड्डू गोपाल की मिट्टी की मूरत देखकर बोलीं - यही तो हैं तेरे दूल्हा। कृष्ण कन्हाई, जिन्हें तू जब-तब गोद में लिए फिरती है। बात भोली बालिका मीराँ के बालमन में गहरे उतर गई। वह तभी से श्रीकृष्ण को अपने सखा के साथ-साथ अपना पति भी मान बैठीं।

इस बारात वाली घटना के कुछ माह बाद मीराँ की माँ अचानक व्याधि ग्रस्त हुई और उनकी तमाम उपचारों के बावजूद दुःखद मृत्यु हो गई। उसके बाद धाय माँ की देख रेख में मीराँ का लालन पालन होने लगा। ज्यों-ज्यों मीराँ बड़ी होने लगीं राव दूदा, बीरमदेव, रतन सिंह तथा परिवार के अन्य सदस्य मातृविहीना मीराँ के लालन-पालन के प्रति और अधिक सचेष्ट हो गए। बीरमदेव का सुपुत्र जयमल मीराँ से चार वर्ष छोटा था। वह भी मीराँ से बहुत स्नेह रखता था। दोनों के बीच मीराँ के कान्हा जी और उनकी भक्ति समान रूप से आकर्षण का केंद्र थे।

पितामह दूदा मीराँ का सबसे अधिक दुलार करते थे। उन्होंने ही मीराँ को उंगली पकड़कर चलना सिखाया। उन्हें भक्ति के पावन संस्कार दिए। उन्होंने ही मीराँ को यह समझ दी कि मेड़ता के चारभुजानाथ मंदिर के अतिरिक्त वहाँ के तालाबों,

पोखरों, बागों और धरती के कण-कण में भगवान श्रीकृष्ण का निवास है। उन्होंने मीराँ को शास्त्रों और संगीत की उत्तम शिक्षा का प्रबंध किया। गजाधर पंडित मीराँ को वेद, पुराण, भागवत का पाठ पढ़ाते तो दूसरे गुरुजन मेड़ता के महल में ही पधार कर उन्हें कवित्त और संगीत आदि की शिक्षा देते। राव दूदा ने अपनी अत्यंत रूपमती एवं गुणमती पौत्री मीराँ को अल्प आयु में ही उसकी पद रचना की प्रतिभा को देखकर बाल्यकाल से ही प्रोत्साहित किया। उन्होंने उसके गायन एवं नृत्य को भी सिर-आँखों पर बैठाया। मेड़ता-नरेश दूदा ने भी यह कभी नहीं माना कि मंदिर में भजन, गायन और ईश-आराधन में नृत्य करना लोक मर्यादाओं के विरूद्ध है। यद्यपि राजपूताने के सामंतों और कुलीन परिवारों में प्रायः घर की स्त्रियों के लिए इसके सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन का निषेध था। पितामह दूदा मीराँ के विषय में ऐसी किसी भी आपत्ति को हँसकर टाल दिया करते थे। वह कहते थे कि बेटी मीराँ अत्यंत उच्च्च कोटि की आत्मा है। यह कृष्णार्पिता भी है। इसे मैं इसके जन्म से पहले ही इसके माता-पिता की सहमति से प्रभु श्रीकृष्ण को अर्पित कर चुका हूँ।

जब मीराँ की आयु लगभग 10-11 वर्ष की थी, मेड़ता में एक साधु-महात्मा पधारे। साधु-महात्माओं का अक्सर मेड़ता में आवागमन और प्रवचन होता रहता था। महल के सभी सदस्य उन्हें प्रेमपूर्वक सुनते थे। राव दूदा साधु-संतों का विशेष आदर सत्कार करते थे। मीराँ इस आध्यात्मिक संस्कृति से प्रारंभ से ही सुपरिचित थीं। किन्तु इस बार पधारे महात्मा कुछ अलग प्रकार के थे। वह अत्यंत शांत स्वभाव के एकान्त साधक थे। उनके पास गिरधारी श्रीकृष्ण की एक परम मनोहर मूर्ति थी। जितने दिन वे मेड़ता नरेश के आतिथ्य में रहे सुबह-दोपहर-शाम मीराँ ने उन्हें श्रीकृष्ण के उस विग्रह की सेवा-अर्चना में ही लीन पाया। किशोरावस्था की ओर उन्मुख बालिका मीराँ को उन गिरधर नागर की मूर्ति ने अपनी ओर इतना आकृष्ट किया कि वह बेबस और बेचैन सी हो गई। बुद्धिमती तो थीं ही मीराँ। तब तक वे सन्त महात्माओं का संकीर्तन सुन-सुनकर स्वयं भी पद-रचना करने और भजन गाने लगी थीं।

जब कुछ दिन बाद वे साधु-महात्मा मेड़ता से जाने लगे तो मीराँ गिरधर जी की उस प्रतिमा को उनसे अनायास माँग बैठीं। जैसा होना था, साधु बाबा ने अपने नित्य-सेवित आराध्य देव को देने से इनकार कर दिया। इस पर मीराँ बुरी तरह रोने लगीं। मीराँ का विलाप इतना दारुण और करुण था कि वे साधु-बाबा भयभीत होकर उस मूर्ति और अपनी गठरी-लकुटी सहित वहाँ से तत्काल भाग लिए। मीराँ अपने

शयनकक्ष में लौटकर शैय्या पर औंधे मुँह गिर पड़ीं। घंटों कक्ष से बाहर नहीं आईं। सखियों-दासियों-बड़ी-बूढ़ियों सभी ने समझाया पर श्रीकृष्ण विरह का तीर उस दिन उनके कोमल हृदय में ऐसा चुभा कि उन्होंने किसी की एक न सुनी। रो-रोकर सबसे कहती रहीं - ''मुझे वे गिरधर गोपाल चाहिए। मैं उनके बिना नहीं रह सकती।'' तब रात्रि के नीरव एकांत में परम संतप्त मीराँ जी ने गाया -

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछड़े मोरे प्रभु जी कबहुँ न पायो चैन।।

भक्त हृदय की आर्त-पुकार से तो परमात्मा भी द्रवित हो जाते हैं। वह साधु-महात्मा मेड़ता से चलते-चलते काफ़ी दूर निकल गए थे। एक जगह रात्रि विश्राम कर रहे थे। ब्रह्ममुहूर्त में उन्हें स्वप्न आया। मानो जगत नियंता स्वयं उन्हें आदेश दे रहे हों कि - जाओ मीराँ को मेरी प्रतिमा देकर आओ। वह बालिका मुझे इस धरती पर सर्वाधिक प्रिय है। यदि तुम मेरी भक्ति पाना चाहते हो तो मेरी इस मूर्ति का मोह त्याग कर इसे मीराँ को तत्काल जाकर सौंप दो। तब वे महात्मा वापस भागकर मीराँबाई के पास पहुँचे और उन्होंने गिरधर गोपाल की वह मूर्ति उन्हें सौंपकर मानो स्वयं श्रीकृष्ण अविनाशी को पा लिया। इसी मूर्ति को फिर मीराँ जी ने जीवन पर्यंत अपने साथ रखा और उनकी नित्य पूजा-अर्चना की।

राव दूदा को अपनी पौत्री का विवाह देखने की महती इच्छा थी। परन्तु सन् 1515 ई. में ही वे चल बसे। उसके एक वर्ष बाद मीराँ का विवाह सन् 1516 में उनके ताऊ सा बीरमदेव तथा ताई सा गोरज्या देवी ने उनके पिता रतन सिंह की सहमति से मीराँ की 12 वर्ष की आयु में सम्पन्न किया। उन दिनों लड़का-लड़की का विवाह कम उम्र में ही किए जाते थे। मेवाड़, जिसकी राजधानी चित्तौड़गढ़ थी, के महाराणा सांगा और मेड़ता के वर्तमान शासक राव बीरमदेव में साले-बहनोई का सम्बन्ध पूर्व से ही था। बीरमदेव की पत्नी गोरज्या देवी महाराणा सांगा की बहन थीं। मीराँबाई के लिए चित्तौड़ नरेश महाराणा सांगा की ओर से ही अपने ज्येष्ठ पुत्र, युवराज कुँवर भोजराज से विवाह का प्रस्ताव मेड़ता आया। उत्तर भारत के सुल्तानों और मालवा, गुजरात एवं आस-पास के शत्रुओं का जो संकट आए दिन राजपूताने पर मंडराया करता था, इस वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा दोनों राजवंशों के राज्यों की सामरिक एकजुटता और भी सुदृढ़ हो जाएगी। ऐसा दोनों पक्षों का मानना था। अतः दोनों पक्षों ने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया।

राजपूतों के विधर्मी शत्रुओं के अतिरिक्त उस काल में राजपूत नरेशों में परस्पर भी मतभेद और वैमनस्य कोई कम नहीं थे। खासकर जोधपुर का शक्तिशाली राज्य तो मेड़ता राज्य को तो जैसे अपनी एक अलग जागीर ही समझता था। राव जोधा के बाद उनके उत्तराधिकारी उनके जैसी उदार दृष्टि नहीं रखते थे। राव जोधा के बाद राव सातल, फिर राव सुजा, राव गांगा और राव गांगा के पश्चात् उनका अत्यंत महत्वाकांक्षी एवं साम्राज्यवादी पुत्र मालदेव जोधपुर का शासक हुआ। उसने कदम-कदम पर मेड़ता-नरेश राव बीरमदेव के मार्ग में काँटे बो दिए। राव दूदा के समय में राज्य निष्कासित सीहा के तीन पुत्र थे- जैसा, गांगा और भोजा। दूदा के रहते तो यह तीन भाई खामोश रहे। मगर उनके आँख बंद करते ही, बीरमदेव के राज्यारोहण के पश्चात् उन्होंने मेड़ता की गद्दी पर अपना दावा ठोंक दिया। इस हेतु उन्होंने जोधपुर नरेश मालदेव से सहायता मांगी। मालदेव ने भी इन सीहा-पुत्रों को उकसाया और उन्हें कुछ सैन्य सहायता दे राव बीरमदेव से दो बार भिड़वाया। परन्तु युद्ध में बीरमदेव के सामने उनकी एक न चली। तीनों भाई- जैसा, गांगा और भोजा दोनों बार पराजित हुए। दूसरी बार हराने के बाद राव बीरमदेव की सेना ने इन्हें जैतगढ़ तक खदेड़कर दम लिया। उसके बाद ये तीनों भाई सुदूर कहीं जाकर बस गए और सिर न उठा सके। परिणाम स्वरूप सीहा के इन पुत्रों की रायण तथा कुड़की की जागीरें, मेड़ता के अधिकार में आ गईं। इनमें से कुड़की की जागीर, जिसमें बाजोली आदि 12 गाँव शामिल थे, राव बीरमदेव ने मीराँ के पिता, अपने छोटे भाई रतन सिंह को सन् 1517 ई. में प्रदान की।

इस घटना के एक वर्ष पूर्व, सन् 1516 में मीराँ का विवाह उन्हीं संकटलीन परिस्थितियों के मध्य धूमधाम से भोजराज सांगावत के साथ मेड़ता में सम्पन्न हुआ। प्रारंभ में मीराँ श्रीकृष्ण प्रभु की भक्ति में अनुरक्त उन्हीं को अपना पति मानने के कारण प्रस्तावित विवाह हेतु राजी नहीं थीं। उन्होंने विवाह से पूर्व रो-धोकर अपनी अनिच्छा भी जताई। परन्तु अंत में पिता रतन सिंह, ताऊ सा बीरमदेव और ताई सा गोरज्या देवी के आग्रह के आगे मीराँ को झुकना पड़ा। कुछ दिन बाद विवाह की रस्मों के अनन्तर मीराँ को सबने गले लगाकर अश्रुपूरित नेत्रों से उनके ससुराल चित्तौड़गढ़ के लिए विदा किया। कहते हैं कि मीराँ ने जब कुँवर भोजराज के साथ अग्नि के सात फेरे लिए तब उस समय भी उनके गिरधर गोपाल की पावन प्रतिमा मीराँबाई की गोद में विराजमान थी।

राजस्थान में चित्तौड़गढ़ मेड़ता से 255 कि.मी. दक्षिण में स्थित है। मीराँबाई दुल्हन के रूप में जब पहली बार अपनी ससुराल चित्तौड़गढ़ पधारीं तो वहाँ के निवासियों, प्रजाजन और परिवार के लोगों ने युवराज कुँवर भोजराज के साथ नव-वधु का भव्य स्वागत किया। महाराणा सांगा वर-वधु के साथ चल रहे थे। महल के द्वार पर राजमाता सोलंकिनी कुँवरबाई अर्थात् भोजराज की माँ आरती का थाल सजाए खड़ी थीं। राठौड़ी रानी धनाबाई, हाड़ी रानी कर्मावती और महल की अनेक स्त्रियाँ श्रृंगार करके प्रफुल्लित मुद्रा में साथ में खड़ी थीं। सबने नव-वधु मीराँ और दूल्हे राजा का बड़े उत्साह से स्वागत किया। मीराँ के साथ पधारे उनके गिरधर श्रीकृष्ण की मूर्ति को देख कुछ विस्मय भी किया। मीराँबाई को देखकर उनके ससुराल-पक्ष के लोगों को प्रारम्भ में ही यह अहसास हो गया कि यह लड़की कुछ अलग मिट्टी की बनी है। असाधारण है। लोकपरांपराओं के निर्वहन की दृष्टि से देखें तो कुछ-कुछ असामान्य भी। कारण कुलदेवी के मंदिर में पशु-बलि दी जाती है, यह विदित होने पर मीराँ ने वहाँ जाने से पहले दिन ही मना कर दिया। मात्र अपनी मंगलकामना के हितार्थ किसी निरीह पशु की हत्या करके देवी पूजन करना मीराँबाई को मंजूर न था। वैसे भी उनके इष्ट आराध्य, गुरु, प्रियतम और अलौकिक पति सब श्रीकृष्ण थे। मुरलीधर श्रीकृष्ण की भक्ति ही मीराँ के लिए यथेष्ट थी, साध्य थी। कुम्भा महल के रनिवास में नव-वधु मीराँ की इस मनमानी को लेकर काफी हलचल मची। परन्तु उस सबके बीच मीराँ अपने निर्णय पर अडिग रहने वाली एक दृढ़ स्त्री सिद्ध हुईं।

पति भोजराज ने दाम्पत्य जीवन में मीराँबाई का बहुत साथ दिया। वह मीराँ की कृष्ण भक्ति का आदर करते थे। यही कारण है कि मीराँ जी के साथ उन्होंने कभी किसी प्रकार की जोर जबर्दस्ती नहीं की। वह उन्हें उनके मुरली-मनोहर के पूजन-अर्चन का पर्याप्त अवसर देते थे। पिता महाराणा सांगा के निर्देश पर युद्धों में भी जाते और राजकाज में भी पिता का हाथ बँटाते। कृष्ण के प्रति पूर्ण समर्पित होने के बावजूद मीराँबाई ने भी भोजराज के साथ यथासाध्यम दाम्पत्य जीवन का निर्वाह किया। अंगसंग भी कुछ काल तक रहा। परन्तु भोजराज अत्यंत मर्यादित आचरण वाले सज्जन प्रवृत्ति के पुरुष थे। भगवान श्रीकृष्ण के प्रति मीराँ की अनन्य भक्ति, उनका भजन-कीर्तन और आध्यात्मिक तेज देखकर वह स्वयं ही मीराँबाई का बड़ा लिहाज करते। वह पत्नी मीराँ की प्रातः सन्ध्या की पूजा में व्यवधान अथवा विघ्न

कदापि न डालते। इसलिए भक्तिमती मीराँ दोनों समय स्नान करके अपने कान्हा जी की सेवा, भोग एवं आरती अवश्य करतीं। उन्हें अपना भाव-भजन प्रस्तुत करतीं।

मीराँ के मन में क़भी-कभी यह पश्चाताप अवश्य होता कि उनके आराध्य प्रभु श्रीकृष्ण के लिए जो उनका नित्य का सारा समय हो सकता था उसमें विवाह के बाद परिसीमन हो गया है। मीराँबाई के जीवन के एक बड़े भाग को उनके भौतिक पुरुष ने उनके आध्यात्मिक पुरुष से बांट जो लिया था। कुँवर भोजराज मीराँ के मन की इस अनकही पीड़ा को समझते थे और कभी-कभी उनसे आध्यात्मिक चर्चा भी करते। कालान्तर में वह पत्नी सहवास से विरक्त भी हो गए। परन्तु भोजराज ने दूसरा विवाह नहीं किया, जबकि राजपुरूषों द्वारा उन दिनों बहुपत्नी विवाह का प्रचलन था। स्वयं महाराणा सांगा ने ही 28 शादियाँ की थीं। पत्नियों के अतिरिक्त राज पुरूषों की अनेक उप-पत्नियाँ आदि भी हुआ करती थीं। परन्तु भोजराज सदैव एक पत्नीव्रती एवं परम संयमित राजकुँवर रहे।

किसी युद्ध अभियान में घायल होकर भोजराज का एक दिन किसी अन्दरूनी चोट अथवा रोग के कारण सन् 1523 में अल्पायु में निधन हो गया। मेवाड़ के युवराज का, महाराणा सांगा के पाटवी पुत्र का, इस प्रकार अकस्मात् देहावसान उनके लिए वज्रपात-सम था। उससे बड़ा आघात विवाह के सात-वर्ष बाद ही वैधव्य को प्राप्त करने वाली युवरानी मीराँबाई के लिए था। सोलहवीं शताब्दी ई. के भारत में विधवा स्त्रियों के लिए सती-प्रथा की कुपरंपरा का भी प्रचलन था। सभी स्त्रियाँ सती नहीं होती थीं परन्तु विशेष परिस्थितियों में सती प्रथा उन दिनों पति की मृत्यु पर प्रायः जवान और सामंत स्त्रियों द्वारा अपनाई जाती थी। कहने को तो यह स्वेच्छा से अपनाई जाती थी, परन्तु इसके पीछे राजपूत समाज की रूढ़ियों, मान्यताओं और परिवार के लोगों के दबाव और षडयंत्र ही काम करते थे।

उधर शोकग्रस्त महाराणा सांगा के सन्मुख युवराज कुँवर भोजराज के शव पर हजारों लोग श्रद्धा सुमन अर्पित कर रहे थे, इधर महल के रनिवास की भीतरी चारदीवारी में घर-बाहर की अनेक स्त्रियाँ शोकग्रस्त युवरानी मीराँ को घेरे हुए थीं। वहाँ सासू माँ महारानी सोलंकिनी जी और रानी कर्मावती की अगुवाई में मीराँबाई को पति की मृतदेह के साथ चिता पर सती हो जाने के लिए महल की स्त्रियाँ उकसाने में भी लगी थीं। मीराँ से वे तरह-तरह से सती की महिमा का बखान कर रही थीं परन्तु उस अवसर पर मीराँ ने मुखरता से सती होने से इनकार किया। उस कुप्रथा का पूर्णतः विरोध

किया। मीराँबाई सती होने को आत्महत्या जैसा पाप मानती थीं। उनका कहना था कि हर व्यक्ति को ईश्वर ने किसी न किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही इस धरती पर भेजा है। मनुष्य को आजन्म अपना योगदान अंतिम श्वांस तक पूर्ण करना चाहिए। मीराँबाई स्वयं को श्रीकृष्ण की ब्याहता स्त्री समझती थीं, जो कि अविनाशी और अनंत हैं। अतः उन्होंने पति भोजराज की मृत्यु के बाद भी अपने वास्तविक पति की दिव्य अनुभूति के कारण एक क्षण के लिए भी अपने को विधवा नहीं माना। इसी से मीराँ ने दुःख की उन विषम घड़ियों में भी साहस और धैर्य के साथ गान किया–

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति वोई।।

महाराणा सांगा को जब यह ख़बर मिली कि उनके रनिवास में बहू मीराँ को सती होने के लिए बाध्य किया जा रहा है तो वे दिवंगत पुत्र के पार्थिव शरीर के पास से उठकर महल के भीतर गए और उन्होंने वहाँ एकत्र रानियों को फटकारा। वह मीराँ को अपनी पुत्री–सम मानते थे। वे अपने सामरिक मित्र मेड़तिये समधियों की बहुत इज्जत करते थे। जब उन्होंने सुना कि पुत्रवधु मीराँ अपने महल में चली-गई हैं तो वह मीराँ महल भी गए। उन्होंने मीराँबाई को वहाँ यह गाते हुए भी सुना –

गिरधर गास्यां सती न होस्यां, मन मोहयो घननामी।
जेठ बहु नातो नहीं राणा जी, म्हैं सेवग थे स्वामी।।

हे राणा जी। मेरा अब आपसे ज्येष्ठ बहू का नाता नहीं, समझिये कि मैं आपकी सेवक हूँ और आप स्वामी। मैं गिरधर जी का भजन करूँगी, पर सती नहीं होउंगी। श्वसुर सांगा वहाँ से लज्जित होकर उल्टे पाँव लौट आये। उन्होंने मीराँ के सती नहीं होने की घोषणा करते हुए अपने समस्त अंतःपुर को खबरदार किया। यही नहीं, पुत्र भोजराज की अन्त्येष्टि के कुछ ही दिन बाद सांगा ने पुत्रवधु मीराँबाई को आर्थिक–आत्मनिर्भरता भी प्रदान की। उन्होंने विचार किया कि इस रूढ़िगत सामंती समाज और राजमहल की सीमित सोच की स्त्रियों की कृपा पर यदि इस सद्यः विधवा राजकन्या को छोड़ा गया तो आगे मेरे बाद जाने इसका क्या हाल हो? बात मेड़ता तक पहुँचे और उन राठौड़ों से भी हम सिसोदियों के सम्बन्ध नाहक खराब हों। यह सोचकर मेवाड़ नरेश महाराणा सांगा अपनी मेड़तणीं बहू मीराँबाई के लिए लाखों की वार्षिक आमदनी वाली 'पुर' और 'मांडल' की जागीरें उसके नाम लिख दीं।

अपनी उन्हीं जागीरों की आमदनी से मीराँबाई ने स्वर्गवासी पति भोजराज की आत्मा की सद्‌गति हेतु मुरलीधर का एक छोटा सा मंदिर चित्तौड़गढ़ के भीतर ही निर्माण कराया। मीराँ अपने शिक्षा गुरू पंडित गजाधर शास्त्री को विवाह के बाद अपने पीहर से आग्रहपूर्वक चित्तौड़ साथ लेकर आई थीं। उक्त नवनिर्मित कृष्णमंदिर की प्राण प्रतिष्ठा उन्होंने पंडित गजाधर से ही कराई और उसका पुजारी उन्हीं को नियुक्त किया। मीराँबाई ने उन्हें 2000 बीघा सिंचित भूमि दान में भी दी। मीराँ उनसे तथा चित्तौड़ में आए दिन पधारने वाले संत-महात्माओं से कथा-प्रवचन आदि सुनती थीं, उन्हें यथाशक्ति दान देती थीं, अतिथि सत्कार करती थीं। दैनिक पूजा में व्यय करती थीं। अपने सेवकों और दासियों का पारिश्रमिक भुगतान भी अपनी जागीरों की आय से ही करती थीं। इस प्रकार श्वसुर सांगा ने मीराँ को वास्तव में उदारतापूर्वक आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान कर दी थी।

चित्तौड़गढ़ में मीराँ-महल कुम्भा-महल से थोड़ी ही दूर स्थित है। कुम्भा-महल में उन दिनों महाराणा संग्राम सिंह उर्फ़ सांगा का निवास था। अन्य महलों में उनकी विभिन्न रानियाँ अपनी दास-दासियों की सेवा में निवास करती थीं। मीराँबाई अपने महल में रहतीं। उनकी ललिता आदि सखियाँ भी मीराँ के महल में निवास करतीं। उदारमना मीराँ अपनी सभी दासियों को अपनी सखी ही मानती थीं। ललिता मीराँबाई की प्रधान सखी थी। वह मीराँ की समवयस्क थी और उनके पीहर मेड़ता से ही आई थी। ललिता मीराँ को बहुत स्नेह करती। सदा उन्हें घेरे रहती। हर दुःख-सुख में वह मीराँ की सहभागी थी। यहाँ तक कि ललिता सखी मीराँ जी के गाए पदों को भी ध्यानपूर्वक सुनती और उन्हें लिपिबद्ध करती थी। उसे मीराँबाई के अनेक पद कंठस्थ थे।

विशाल हृदय मीराँ का स्वरूप इतना तेजोमय था कि उनके सम्पर्क में जो कोई भी आता उनका हो जाता। कठोर हृदय भी होता तो उसका हृदय परिवर्तन हो जाता। चित्तौड़ के रनिवास से कभी जासूस की भाँति दो दासियों चम्पा और चमेली हठी मीराँ की गतिविधियों पर दृष्टि रखने हेतु लगाई गई थीं। दोनों दासियाँ चम्पा और चमेली मीराँ की पावन भक्ति और उनके निर्मल स्वभाव से पराभूत हो एक दिन मीराँबाई की ही भक्त हो गईं। यह था मीराँ के असाधारण व्यक्तित्व का अद्‌भुत आकर्षण। भक्तिमती मीराँबाई की दिनचर्या अत्यंत नियमित थी। जब वह अपने मीराँमहल में रहतीं, अपने गिरधर नागर का नियम से आराधन-पूजन करतीं। गिरधर जी की भोग-आरती, उत्थान-शयन, समस्त प्रकार से उनकी पूजा अर्चना का मीराँ का नित्य

का नियम था। कुछ ही दूर पर कुम्भश्याम जी का मंदिर था। संध्या समय मीराँबाई अपनी सखियों साथ उस मंदिर में जाकर पूजन और कीर्तन करतीं।

पति भोजराज के अवसान के पश्चात मीराँ का एकाकी और लम्बा जीवन अब साधु-संगत के लिए उन्हें पर्याप्त समय प्रदान करने लगा था। अब उनके लिए श्रीकृष्ण और साधु-संतों में कोई विभेद न रहा। संतों के दर्शन उनकी सेवा में मीराँ का मन बहुत रमता। कभी-कभी तो उन्हें भक्ति और वैराग्य के बीच भी भेद नहीं प्रतीत होता। जोगियों के रूप में भी उन्हें कृष्ण ही नजर आते। वह कृष्ण की यदि माधुर्य भक्ति करतीं तो उन्हें कभी-कभी जोगी के नाम से भी पुकारतीं। सही तो है, योगेश्वर श्रीकृष्ण से बड़ा योगी समस्त संसार में और कौन? नृत्य करते और इकतारा-खड़ताल बजाते मीराँ गातीं -

जोगियो आनि मिल्यो अनुरागी।
संसा सोक अंग नहिं त्रिसना, दुबध्या सबही त्यागी।

इस प्रकार संतों में 'हरि दर्शन' करने वाली मीराँ भक्ति रस में निमग्न हो जब श्रीकृष्ण की आराधना करते-करते दोनों पैरों पर नृत्य करने लगतीं तो उन्हें अपने तन-मन की सुधि न रहती। नाचते-नाचते वह कई बार समाधि में चली जातीं और अचानक खड़ी-खड़ी भूमि पर गिर जातीं। ऐसे में ललिता आदि सखियाँ सेविकाएं सतर्क रहतीं। उन्हें गिरने से बचातीं और समाधिस्थ मीराँ को जैसे-तैसे संभालतीं। कृष्ण प्रेम दीवानी मीराँबाई चित्तौड़गढ़ में कुलीनों और आमजन दोनों के लिए कौतुहल का विषय बन चुकी थीं। अलग-अलग कारणों से। उनका हरि-गायन एवं उन्मुक्त नृत्य यदि किन्हीं के लिए अमर्यादित आचरण था तो किन्हीं के लिए ईश्वर के प्रति श्रद्धा-भक्ति का आलम्बन।

राजस्थान में अजमेर के निकट स्थित पुष्कर तीर्थ का बड़ा महत्व है। मीराँ वहाँ अक्सर जाकर ब्रह्मकुण्ड में स्नान कर वहाँ स्थित ब्रह्मा जी के उस एकमात्र सुप्रसिद्ध मंदिर के दर्शन अवश्य करती थीं। वे वहाँ एक धर्मशाला में कुछ दिन अपनी सखियों ललिता आदि के साथ निवास भी करतीं। इससे उनके मन को बड़ी शांति मिलती। महाराणा सांगा अपनी बहू मीराँ के इस तीर्थाटन के आग्रह को कभी नहीं टालते थे। अपनी बीनड़ी की चित्तौड़ से बाहर उनके पीहर मेड़ता आदि की यात्रा अथवा उनके पुष्कर-प्रवास के लिए उनके साथ जाने को पर्याप्त सुरक्षा सैनिक और रसद सामग्री इत्यादि की व्यवस्था वह कर देते।

एक बार पुष्कर से चित्तौड़ की वापसी यात्रा के दौरान में मीराँ जी को भजन गायन करता हुआ एक रैदासी साधु मिल गया। वह एक वटवृक्ष की छाया में बैठा बड़ा ही तन्मय होकर संत रैदास का एक पद गा रहा था और कुछ ग्रामीण उसके निकट बैठे उसे सुन रहे थे -

प्रभु जी! तुम चन्दन, हम पानी।
जा की अंग-अंग बास समानी।।
प्रभु जी!! तुम घन बन, हम मोरा।
जैसे चितवत चन्द चकोरा।।

मीराँबाई इकतारे पर गाए जा रहे इस सुमधुर भजन को सुनकर आनंदातिरेक से भर गईं। उन्होंने अपनी पालकी रुकवा दी और चलकर पहुँच गईं उस साधु के निकट। उनका संत रविदास के उस शिष्य से परिचय हुआ। उसने बताया कि उसके गुरुदेव रैदास जी देह छोड़ चुके हैं, आज से कुछ वर्ष पूर्व। रैदास जी का जन्म विक्रम संवत् 1433 में हुआ था और उन्होंने संवत् 1563 में अपने पंचभौतिक शरीर को त्यागा। परन्तु जो सरल सहज भक्तिमार्ग गुरू रैदास दिखा गए उस पर उनके शिष्यगण आज भी चल रहे हैं। मेड़तणी मीराँबाई के मन में सन्त रैदास, की एक अदृश्य छवि किसी श्रद्धा-छाया की भाँति उतर गई। उस अवसर पर मीराँ ने भी उस रैदासी साधु को अपने भी कुछ भजन सुनाए -

करना फकीरी क्या दिल गीरी,
सदा मगन मन रहना जी।

और फिर उन्होंने चित्तौड़गढ़ के लिए गाते-गाते प्रस्थान किया -

मैं तो गिरधर के पास जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।

उन दिनों मीराँ के भजनों की ख्याति सुनकर साधु-संतों का आवागमन चित्तौड़ के मीराँ-महल में बहुत बढ़ गया था। कई-कई दिन तक वे साधुगण चित्तौड़गढ़ में प्रवास करते। अतिथिगृह जब भर जाते तो अनेक साधु, संन्यासी, फकीर आसपास के बगीचों में डेरा डाल लेते। मीराँबाई की ओर से सभी का भोजन-सत्कार होता। इन बाहरी लोगों के आवागमन से महाराणा के दरबारियों को धीरे-धीरे किले की सुरक्षा की चिंता होने लगी कि यदि कोई वैरी राजपूत अथवा कोई दुष्ट यवन साधुवेश में चित्तौड़गढ़ में प्रवेश

कर गया तो इस कोट की क्या गोपनीयता शेष रह जायेगी? राज दरबारियों ने अपनी चिंता राजा से व्यक्त की। तब मेवाड़ नरेश सांगा ने एक हल निकाला। कुम्भश्याम मंदिर के प्रांगण में ही एक अन्य पुराना मंदिर था जो कभी नरसिंह भगवान का मंदिर हुआ करता था। कालक्रम में वह भवन उपेक्षित हो गया। उसे मंदिर के पुजारियों ने अपना आवास बना लिया था। सांगा ने उस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया और उसमें मुरलीधर श्रीकृष्ण की एक मूर्ति प्राण-प्रतिष्ठित कराकर उसे अपनी पुत्रवधु मीराँ को सौंप दिया कि अब से जो साधु-संत पधारें उनका स्वागत तुम इसी मंदिर में करो। यहीं सत्संग-प्रवचन आदि का आनंद लो। मीराँबाई बुद्धिमान तो थीं ही। राजकाज, सुरक्षा कारणों को समझ गईं। तभी से यह मंदिर मीराँ की नित्य संध्या-सत्संगों का केन्द्र बन गया। कालान्तर में यही 'मीराँ मंदिर' के नाम से विख्यात हुआ।

सन् 1527 ई. में खानवा के युद्ध में बाबर के हाथों महाराणा सांगा की पराजय हुई। इस युद्ध में सांगा की ओर से लड़ने वाले मीराँ के पिता रतन सिंह और एक अन्य चाचा वीरगति को प्राप्त हुए। सन् 1528 में महाराणा सांगा के ही कुछ विश्वासपात्र सामंतों ने सांगा को विष दे दिया। इस तरह इस 'हिन्दुवा सूर्य' मेवाड़ नरेश का दुःखद अंत हो गया। देर सबेर जब मीराँ को ये सभी समाचार मिले तो वे इन गम्भीर आघातों को भी किसी तरह सह गईं। उनके जीवन में पहले माँ गईं, फिर दादू सा, फिर उनकी पालनकर्ती धाय माँ, स्वयं उनके पति भोजराज, फिर पिता, काका और उन्हें पुत्री सम मानने वाले श्वसुर सांगा। मीराँ ने अपने युवाकाल में ही इस प्रकार अपने अनेक निकटतम आत्मीयजन को खोने के अनेक दुसह आघात सहे। पर उनके श्याम सुंदर श्रीकृष्ण, उनके चिर सखा मानो प्रतिपल मीराँ के साथ रहे। इसलिए वह हर दुःख को साहस के साथ झेलती चली गईं।

मीराँ के पति भोजराज, जो सांगा के ज्येष्ठ पुत्र थे, उनकी मृत्यु तो अपने पिता के जीवनकाल में ही हो चुकी थी। अतः अब उनके सबसे बड़े देवर रत्न सिंह महाराणा सांगा के बाद मेवाड़ के राणा बने। रत्न सिंह महारानी धनाबाई का पुत्र था। धनाबाई अथवा धनकंवर मारवाड़ के राव सुजा की पौत्री थीं। जबकि मीराँबाई राव सुजा के ही छोटे भाई रहे मेड़ता के राव दूदा की पौत्री थीं। इस प्रकार धनकंवर और मीराँ दोनों परस्पर चचेरी बहने थीं और राठौड़ राजवंश से ही आती थीं। अतः धनाबाई मीराँबाई और राणा रत्न सिंह का एक स्वाभाविक कौटुम्बिक नेह-नाता था। मीराँ का जीवन रत्न सिंह के शासनकाल में पर्याप्त सुखमय एवं निर्बाध बीता।

परन्तु राणा रत्न सिंह मात्र तीन वर्ष ही राज कर पाया। उसका एक प्रमुख कारण था। रणथम्भौर का किला और उससे जुड़ी भारी आमदनी वाली जागीर, जिसे महाराणा सांगा अपने जीवनकाल में ही अपनी चहेती युवा एवं रूपमती हाड़ी रानी कर्मावती के बेटों कुँवर विक्रमादित्य और कुँवर उदय सिंह के नाम कर गए थे। यह बात रत्न सिंह के मन में कांटे की तरह चुभती थी। राज्य के एक प्रकार के इस बंटवारे को अपने पिता के समक्ष उनके जीवनकाल में कुँवर रत्न सिंह ने अनिच्छापूर्वक ही स्वीकार किया था। यह महाराणा सांगा की एक बड़ी भूल थी जिसने सौतेले भाइयों के दिलों में दरार डाल दी थी।

महाराणा सांगा के इस निर्णय के बाद से ही हाड़ी रानी कर्मावती के दोनों अवस्यक पुत्र विक्रम और उदय अपने मामा बूंदी के हाड़ा राजपूत सूरजमल के संरक्षण में रणथम्भौर के गढ़ में रहने लगे थे। महाराणा जब तक जीवित रहे रानी कर्मावती चित्तौड़ में रहीं। चित्तौड़ से रणथम्भौर आती-जाती रहीं। महाराणा सांगा की मृत्यु के बाद वह अपने पुत्रों के साथ ही रणथम्भौर में ही जा बसीं। इससे मेवाड़ राज्य में सौतेले भाइयों के मध्य दूर-दूर रहते हुए षडयंत्रों का नया दौर प्रारंभ हो गया। इसका अंत सन् 1531 में बूंदी के निकट के जंगलों में शिकार के बहाने राणा रत्न सिंह की हत्या से हुआ। कर्मावती के भाई सूरजमल, जो उनके बालकों के संरक्षक और जागीर के प्रबंधक थे एक दिन रत्न सिंह से शिकार के दौरान परस्पर जंगल में भिड़ गए। परिणाम स्वरूप द्वन्द्वयुद्ध में दोनों राजूपतों ने एक-दूसरे को लड़ते-लड़ते मौत के घाट उतार दिया।

राणा रत्न सिंह की मौत के उपरान्त रानी कर्मावती उर्फ़ करमेती का पुत्र विक्रमादित्य मेवाड़ का राणा बना। वह एक किशोर वय का दुर्बद्धि युक्त शासक था। रानी कर्मावती ने लाड़-प्यार में उसे सिर चढ़ा रखा था। बड़ा होकर वह और भी निरंकुश हो गया। रणथम्भौर से आकर जिस दिन विक्रमादित्य चित्तौड़ के राज सिंहासन पर बैठा उसी दिन से भक्तिमती मीराँबाई के घोर दुर्दिन शुरू हो गए।

सर्वप्रथम दिवंगत राणा रत्न सिंह की विधवा रानी पँवारबाई को षडयंत्रपूर्वक जबरन सती कर दिया गया। राजमाता धनाबाई को उनके महल के आसपास पाबंदियाँ लगा दी गईं। राणा विक्रम ने हजारों पहलवान पाल रखे थे। वे राज दरबार के वरिष्ठ सामंतों तक का उपहास उड़ाते फिरते थे। दुष्ट एवं नादान राणा अपनी माँ करमेती के समझाने बुझाने के बावजूद मनमानी किया करता, मौज लिया करता और मद्यपान एवं रंग रेलियों में रूचि लेता।

राणा विक्रम अपनी अनिंद्य सुंदरी भाभी मीराँबाई पर भी कुदृष्टि रखने लगा। प्रत्यक्ष तो उसकी हिम्मत नहीं पड़ी। परन्तु एक बार एक नवयुवक संन्यासी को किसी तरह तैयार कर उसके माध्यम से विक्रमादित्य ने अपना नीचतापूर्ण प्रेम प्रस्ताव मीराँ जी तक भेजा। कहलवाया कि यदि मीराँ मान जाए तो वह उन्हें अपनी पटरानी बना लेगा। मीराँ जी से एकांत वार्ता में उस युवा संन्यासी ने राणा के प्रस्ताव के साथ-साथ अपना भी प्रणय निवेदन कर डाला। मीराँ इस अकल्पनीय धृष्टता से भीतर से हिल जाने के बावजूद उसे उस समय सहन कर गईं। उन्होंने सायंकालीन सत्संत सभा में उस संन्यासी को मीराँमंदिर में आमंत्रित किया। वहाँ सत्संग के समय अपनी सखी ललिता एवं अन्य की सहायता से एक चारपाई मंगवाई और मंदिर में भरी सभा के मध्य वह चारपायी सेज की भाँति बिछवाकर सार्वजनिक घोषणा की कि इन रसिक शिरोमणि सन्त महाराज ने मुझसे अंगसंग करने का निवेदन किया है। इनका कहना है कि इन्हें भगवान श्रीकृष्ण ने ही विरहणी मीराँ से रमण का आदेश दिया है। अतः हे महाभाग! यदि यह मेरे मुरली मनोहर का ही आदेश है तो उसे उनकी यह दासी कैसे टाल सकती है? लीजिए यह सुखसेज तैयार है। आप आइये और इस पर निःशंक अपना काम कीजिये। इतना सुनना था कि मंदिर में हंगामा मच गया। उस नवयुवक की सभी भक्तगण लात-घूंसों से पिटाई करने लगे। मीराँ जी ने बीच बचाव किया। तब उसने मीराँबाई के पैरों पर गिरकर क्षमा माँगी और वहाँ से किसी तरह जान बचाकर भाग गया। उसके बाद वह राणा के भी हाथ न लगा।

राणा विक्रम ने मीराँबाई के पीछे गुप्तचर छोड़ दिए। मीराँ क्या करती हैं? अपने भजनों में क्या-क्या गाती हैं? किन-किन से मिलती हैं? प्रत्येक बात की मीराँबाई की हर गतिविधि की वह खबर रखने लगा। एक बार संत मीराँ के कवित्त और उनकी भक्ति की ख्याति सुनकर मालवा राज्य के सारंगपुर का मुस्लिम नवाब अपने एक साथी के साथ भेष बदलकर चित्तौड़ आया। उसने मीराँ मंदिर में मीराँ जी का सुमधुर गायन सुना और उनसे अत्यंत प्रभावित होकर मोती-माणिक्यों का एक कीमती हार उनके चरणों में न्योछावर कर दिया और आनन-फानन में वहाँ से निकल गया। राणा विक्रम को जब इस घटना की खबर मिली तो वह दाँत पीसता रह गया। उसने मीराँ मंदिर में किले के बाहर के भक्तों के आने-जाने पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया। जिस दिन यह प्रतिबन्ध लगा मंदिर आने वाले साधुओं और आम लोगों को विक्रमादित्य के पले हुए पहलवानों ने मंदिर मार्ग पर ही गालियाँ देकर बहुत अपमानित

किया। कइयों को मारा-पीटा और वापस खदेड़ दिया। मीराँबाई को जब खबर लगी तो उन्होंने राणा विक्रम से इसकी शिकायत की। राणा उसे हँसकर टाल गया।

इसी दुष्ट विक्रमादित्य ने मीराँबाई को प्रताड़ित करने के और उन्हें कपटपूर्वक मारने के अनेकानेक प्रयत्न किए। उसने उनके लिए अपनी कुछ विश्वस्त कुटिल दासियों को मीराँ के कक्ष में विषाक्त शूल-सेज बिछाने हेतु मीराँमहल भेजा। मीराँ की अनन्य सखी ललिता ने इस प्रयास को निष्फल कर दिया। मीराँ की सेज को सही करने के प्रयास में वह अपना हाथ घायल करके स्वयं मरणासन्न हो गई। ललिता सखी को मीराँबाई की प्रार्थना और उपचार ने बचाया।

राणा विक्रमादित्य ने मीराँ को अनेक दुःख दिये। उन्हें सर्पदंश से मरवाने का भी प्रयत्न किया, परन्तु मीराँ उस षडयंत्र से भी बच निकलीं। वह अपने साँवरे-सलोने कन्हाई के रंग में रची हुई थीं। उन्हें लोकलाज की कोई परवाह नहीं थी। न ही अपने इस नश्वर जीवन की कोई चिंता थी। मीराँ दिन-रात अपने गिरधर कृष्ण जी की पूजा-अर्चना-सेवा में मगन रहतीं और गातीं -

मैं तो साँवरे के रंग राची।
सजि सिंगार बांध पग घुंघरु, लोक लाज तजि नाँची।

'पग घुंघरु बाँधकर' तो मीराँ उस दिन भी अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के विग्रह के सन्मुख नाची थीं जब राणा विक्रम ने अपने एक दुष्ट दरबारी बीजावर्गी से कालकूट-सम घातक विष कहीं से तैयार कराकर मंगवाया और उसे भगवान के चरणामृत के बहाने से पान करने हेतु अपनी भाभी मीराँबाई को भिजवाया। बीजावर्गी ने विष भरा वह स्वर्णपात्र दयाराम पण्डा के हाथों मीराँ जी के पास भेजवाया। दुष्ट राणा विक्रम ने दयाराम के साथ मीराँ की एक खल-बुद्धि ननद ऊदाँबाई को भी समस्त घटनाक्रम पर दृष्टि रखने हेतु साथ भेजा। उदाँबाई भी भाभी मीराँ को भक्तिमार्ग को विचलित करने हेतु वर्षों से उनसे तर्क-वितर्क किया करती थी। परन्तु अब तक वह भी मीराँ की भक्ति और उसकी उदारता के रंग में रंग चुकी थी। उसने भाभी मीराँ के कान में चरणामृत के कटोरे में विष होने की आशंका भी जताई और उसे न पीने का आग्रह किया। किन्तु मीराँ हँसकर टाल गईं और उन्होंने भगवान के प्रसाद का अनादर करना उचित न बताते हुए वह विष भरा कटोरा विष होठों से लगा लिया। भक्तिमती मीराँ वह समस्त गरल पी गईं। परन्तु श्रीकृष्ण के प्रताप से, अपनी

साधना के बल से अथवा किसी दैवीय-कृपा से मीराँ वह दुर्निवार आघात भी सह गईं। चमत्कार घटित हो चुका था और अब उसकी चारों दिशाओं में फैलने वाली ख्याति को कोई रोक नहीं सकता था।

एक बार नशे में धुत राणा विक्रमादित्य ने संत मीराँ को व्यभिचारिणी और कुल्टा होने का कुत्सित आरोप लगा स्वयं ही तलवार के घाट भी उतारना चाहा, परन्तु उसमें भी वह असफल रहा। मीराँ के आराध्य सर्वशक्तिमान श्रीकृष्ण की अदृश्य शक्ति ने उस कायर के हर वार को निष्फल कर दिया। राणा उल्टे पाँव भयग्रस्त होकर भाग गया।

मीराँ का इस सारे झंझावत में यह एकमात्र सिद्धांत था कि सिसोदिया कुल का राणा भले ही रूठ जाए उन्हें प्रत्येक दशा में गोविंद का गुण गाना है। राणा रूठकर उनका क्या कर लेगा? वह अपना देश रखाता रहे अर्थात् समाज में व्याप्त कुपरंपराओं और रूढ़ियों की रक्षा करता रहे। किन्तु हरि के रूठने से मीराँ की भक्ति व्यर्थ चली जाएगी और वह स्वयं कुम्हला जाएंगी-

सिसोद्यो रूठ्यो तो म्हाँरो काँई कर लेसी।
म्हेन्तो गुण गोविन्द का गास्याँ हो माई।
राणो जी रूठ्याँ बारो देस रखासीं।
हरि रूठ्याँ कुम्हलास्याँ हो माई।

मीराँबाई ने राणा विक्रम के अत्याचार सहते हुए अपने गाए पदों में राणा का अनेक बार उल्लेख किया है। यह उल्लेख जहाँ एक ओर भक्ति के साँचे में ढला है, वहीं दूसरी ओर उसमें मीराँ के सात्विक विद्रोह का निर्भीक हथौड़ा भी अपना निरंतर काम करता रहा है। इसके पीछे मीराँ का आत्मबल तो था ही, मेड़तिए राजपूतों का वह सुरक्षा-कवच भी अपनी जगह था जो वह विवाहोपरांत मेड़ता से अपने साथ लाई थीं। किंतु सर्वोपरि था उनके गिरधर गोपाल का वह सुदर्शन चक्र जो अदृश्य रहकर भी मीराँबाई के आध्यात्मिक व्यक्तित्व को अहर्निश अपनी छाया देता था। तथापि व्यक्ति चाहे कितना भी दृढ़निश्चयी क्यों न हो हर एक प्राणी की सहनशक्ति की कोई न कोई सीमा अवश्य होती है। मीराँ ने राणा के अनेक अन्याय सहे। वह फिर भी अपने ससुराल में, चित्तौड़गढ़ की निर्मम दीवारों के मध्य अपमान सहकर भी किसी तरह रहती रहीं। परन्तु जब राणा विक्रम ने अपनी भाभी के चरित्र पर लांछन लगाकर उन्हें मारने के लिए स्वयं तलवार उठायी तो मीराँ टूट गईं। मीराँ को अब कहना पड़ा कि-

नहिं सुख भावै थारो देसलड़ो रँगरूड़ो।
थारे देसाँ में राणा साध नहीं छे, लोग बसै सब कूड़ो।

देवर विक्रमादित्य के हाथों भाँति-भाँति से दुःख पाकर जब अपमान की अति हो गई तो मेड़ता की बेटी मीराँ ने चित्तौड़ का ससुराल सदा-सदा के लिए छोड़ देने का संकल्प किया। जिस दिन भक्ति की प्रतिमूर्ति मीराँबाई ने मन में यह निश्चय किया उसी दिन से राणा विक्रमादित्य के ही नहीं उनके मेवाड़ राज्य के भी बुरे दिन शुरू हो गए। सितम्बर 1532 ई. में गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण हेतु कूच किया। यह समाचार मिलते ही विक्रमादित्य घबरा गया। उसने चारों ओर अपने संदेशवाहक दौड़ाए। अनेक राजपूत सरदार राणा की अनीतियों से नाराज होकर अपनी-अपनी जागीरों में जा बैठे थे। राणा विक्रम ने उन्हें सेनाओं सहित बुलवाया। कुछ आए। अधिकांश नहीं आए। बौखलाए विक्रमादित्य ने संदेशवाहक भेजकर मीराँ के पीहर से उनके ताऊ सा राव बीरमदेव से भी सैन्य सहायता माँगी। बीरमदेव हमेशा की तरह मेवाड़ की सहायता के लिए मेड़ता से निकल पड़े। इस बीच बहादुरशाह की सेना ने चित्तौड़गढ़ को घेर लिया। इस अवसर पर विक्रमादित्य के 7000 मुस्टंडे पहलवान उसके किसी काम न आए। वे किले की भीतर ही इधर-उधर हो हल्ला मचाते रहे। गुजरात के सुल्तान की सेना ने चित्तौड़गढ़ के भैरव पोल तक कब्जा कर लिया। राणा के मुट्‌ठी भर राजपूत सैनिकों ने किसी भाँति उन्हें किले में प्रवेश से रोके रखा। रानी कर्मावती ने तब राणा विक्रम की ओर से सुल्तान को एक संधि प्रस्ताव भेजवाया।

तब तक मेड़तिया राजपूतों की सेना भी राव बीरमदेव के नेतृत्व में चित्तौड़ के निकट तक आ पहुँची थी। राव बीरमदेव मेवाड़ नरेश द्वारा भेजे संधि प्रस्ताव के पक्ष में नहीं थे। इस प्रस्ताव में मालवा राज्य का जो भूभाग महाराणा सांगा के समय जीता गया था वह समस्त भूभाग तथा मालवा के सुल्तान से हासिल किया गया सोने का एक जड़ाऊ कमरपट्‌टा और बेशकीमती ताज गुजरात के सुल्तान को दिये जाने की बात थी। साथ ही मेवाड़ की ओर से दस हाथी, सौ घोड़े और भारी मात्रा में स्वर्ण मुद्राएं भी बतौर हर्जाना दिए जाने की पेशकश की गई थी। राणा विक्रम और राजमाता कर्मावती ने इस विषय में राव बीरमदेव की बात न मानकर शत्रु से वह अपमानजनक सन्धि कर ली। सुल्तान बहादुरशाह उसके बाद अपने सैन्यबल सहित इस हमले को बीच में छोड़कर गुजरात लौट गया।

बीरमदेव को यह बहुत बुरा लगा। उससे कहीं बुरा उन्हें तब लगा जब उन्हें मीराँबाई पर राणा विक्रम के समय में पुत्री मीराँ पर टूटे तमाम दुःखों के पहाड़ की जानकारी मीराँ के निकट के सूत्रों से मिली, जिसकी पुष्टि अब तक मर्यादित रहीं मीराँ के नेत्रों से अविरल बहते अश्रुओं ने कर दी। बीरमदेव ने उसके बाद कर्मावती और विक्रमादित्य को खूब खरी-खोटी सुनाई और वे पुत्री मीराँ को अपने साथ मेड़ता वापस ले गए। मीराँ ने भारी मन से चित्तौड़ छोड़ दिया। इसी के साथ राणा मेवाड़ के साथ मेड़ता नरेश का सामरिक नाता भी प्रायः छिन्न-भिन्न हो गया।

मीराँ के विषय में मेड़ता में राव बीरमदेव ने अपनी पत्नी, मीराँ की ताई सा रानी गोरज्या देवी को वह सब कुछ दुःखद वृत्तांत बताया जो उन्हें चित्तौड़ में इस बार विदित हुआ था। राणा सांगा की बहन गोरज्या देवी तब बहुत दुःखी और हतप्रभ हुईं। अपने पीहर के उन दुष्ट सम्बन्धियों के आपराधिक कृत्यों पर वह शर्म से गड़ गईं। कितने अरमानों के साथ उन्होंने एक फूल सी बच्ची को वहाँ अपने हाथों विदा किया था। ससुराल में पहले पति का साया सिर से हटा। फिर ऐसी परिस्थितियाँ और अन्यायपूर्ण घटनाएं एक के बाद एक कर घटित हुईं कि पूरे 16 वर्ष बाद मीराँबाई को गृहत्याग कर ससुराल से पीहर लौटना पड़ा, सदा सर्वदा के लिए। उनके गिरधर गोपाल जो उसके जीवनाधार थे उसकी गोद में यहाँ से वहाँ गए थे, उसी तरह वहाँ से यहाँ वे भी मीराँ के साथ मेड़ता लौट आए। मीराँ ने अब चित्तौड़ न लौटने की कसम-सी खा ली थी।

चारभुजानाथ जी के मंदिर में जब मीराँ गईं तो उनके दर्शनों के लिए मेड़तावासियों की भीड़ लग गई। स्त्री-पुरूष, साधु-गृहस्थ सभी भक्त मीराँबाई की भक्ति के चर्चे सुनकर उन्हें सुनने के लिए मंदिर में एकत्र हो गए थे। मीराँ जी ने भी उन्हें निराश नहीं किया। उन्होंने भगवान चार भुजानाथ को इंगित कर गाया -

म्हारो जणम जणम रो साथी थाँणे णा बिसरयाँ दिन राती।
थाँ देख्याँ विण कल णा पड़ताँ जाणे म्हारो छाती।

मीराँ जी ने लगभग तीन वर्ष का समय मेड़ता में बिताया। प्रत्येक संध्या वे चारभुजानाथ के मंदिर में उसी तरह भजन-कीर्तन हेतु जातीं जैसे चित्तौड़ के कृष्ण मंदिर में जाया करती थीं। जो कालान्तर में मीराँ-मंदिर के नाम से विख्यात हो चला। यहाँ मीराँ को पूजन-कीर्तन-साधु संगत की पूरी छूट थी। मीराँ भक्तों के मध्य

कृष्णमय होकर आनंद विभोर हो नृत्य किया करतीं। उनका एकतारा दाहिने कर में और खड़तालें बाएं कर में प्रेम दीवानी मीराँ का मर्म बूझते हुए कृष्ण मुरारी के गुणगान में देर-देर तक बजा करते।

उधर चित्तौड़ से मीराँबाई के चले जाने के बाद वहाँ की राजनीतिक परिस्थितियाँ दिनोदिन शोचनीय होती गईं। महाराणा सांगा से शत्रुता रखने वाले उनके ज्येष्ठ भ्राता पृथ्वीराज का एक दासी-पुत्र बनवीर चतुराई से राणा विक्रमादित्य के जीवन में प्रवेश कर गया था। बनवीर भी उस मूर्ख राणा को उल्टे-सीधे सुझाव देकर उसे पथभ्रष्ट करने में लगा रहा। वह स्वयं को अपने स्वर्गीय पिता पृथ्वीराज रायमलोत का उत्तराधिकारी मानता था। साथ ही यह मानता था कि राणा रायमल कुम्भावत ने उसके पिता पृथ्वीराज को राज्य से बेदखल कर अन्याय किया था। क्योंकि ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते मेवाड़ की गद्दी के असली हकदार वही थे। कालान्तर में सांगा का राज्यारोहण हुआ। इसलिए बनवीर सांगा और उनके सभी पुत्रों से घृणा करता था। प्रत्यक्ष में वह राणा विक्रमादित्य का झूठा मित्र बनकर चित्तौड़ के सिंहासन पर आँखे गड़ाए बैठा था। उसने मेवाड़ की गद्दी हथियाने के लिए कुचक्र रचने शुरू कर दिए थे। इसी क्रम में एक ओर वह राणा विक्रम का हितैषी बना हुआ था, दूसरी ओर गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह से जा मिला था। वह चित्तौड़गढ़ के सामरिक भेद मेवाड़ के उस पुराने शत्रु को गुपचुप देता रहता था। उसने राणा विक्रम को भक्तिमती मीराँबाई के विरूद्ध भी भड़काया जिससे मीराँ को अंततः चित्तौड़ त्याग कर जाना पड़ा। सुल्तान बहादुरशाह का एक हमला सन् 1932 में चित्तौड़ पर हो ही चुका था, जिसमें मीराँ के पीहर मेड़ता के राजपूतों की सैन्य सहायता ने बहादुरशाह पर पर्याप्त दबाव बनाया। इस अवसर पर रानी कर्मावती और राणा विक्रम द्वारा की गयी कायरतापूर्ण संधि के पश्चात् गुजरात का सुल्तान वापस गुजरात वापस लौट गया था।

मीराँबाई के चित्तौड़ त्याग के पश्चात् सन् 1534 में सुल्तान बहादुरशाह का दूसरा हमला हुआ। उसने पुनः चित्तौड़गढ़ का घेरा डाला। इस बार वह और अधिक तैयारी तथा विशाल सेनाओं के साथ आया था। रानी कर्मावती ने मुगल बादशाह हुमायूँ को रक्षार्थ एक बहन की भाँति राखी सहित संदेश भेजा। परन्तु हुमायूँ बहादुरशाह के संदेशवाहक द्वारा इस्लाम का वास्ता दिए जाने से ग्वालियर से ही वापस लौट गया और रानी कर्मावती की सहायतार्थ नहीं पहुँचा। कायर राणा विक्रमादित्य अपने अल्पवयस्क छोटे भाई उदय सिंह को लेकर कुछ अंगरक्षकों के साथ चित्तौड़गढ़ की किसी सुरंग

से सुरक्षित निकल भागा। इस बार मीराँ के ताऊ सा राव बीरमदेव ने भी राणा विक्रम की कोई सहायता नहीं की। कहते हैं कि रानी कर्मावती सहित 13000 राजपूत स्त्रियों ने अपने शील की रक्षा के लिए धधकते अग्निकुंड में कूद कर किले के भीतर जौहर किया अर्थात् आत्मबलिदान दे दिया। चित्तौड़ के किले पर बहादुरशाह का कब्जा हो गया और भारी मारकाट और धार्मिक स्थलों का विध्वंस हुआ। मीराँ जी द्वारा अपने स्वर्गीय पति भोजराज की याद में चित्तौड़गढ़ के भीतर बनाया गया वह छोटा सा कृष्ण-मंदिर इसी हमले में पूरी तरह विनष्ट हो गया।

उधर मेड़ता में भी राव बीरमदेव पर भारी राजनीतिक संकट के दिन आ गए। फलतः मीराँबाई अपने पीहर में भी सुखी और और स्थिर न रह सकीं। उनके ताऊ सा बीरमदेव और जोधपुर नरेश राव गांगा के पुत्र मालदेव में पुरानी शत्रुता उनके युवाकाल से चली आ रही थी। कहते हैं यह शत्रुता एक विशाल हाथी की मालदेव की फर्माइश बीरमदेव द्वारा पूरी न किये जाने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी। राजपूतों में हाथियों की लड़ाई देखने का चलन था। एक क्रीड़ा प्रतियोगिता में दोनों राजकुंवरों के बीच उस शानदार विजयी हाथी के आदान-प्रदान न होने से दोनों के मध्य उपजी प्रतिद्वन्द्विता फिर मूंछ की लड़ाई बन गई। हाथी मेड़ता के राजकुँवर बीरमदेव का था जिसे उसने जोधपुर के राजकुँवर मालदेव के द्वारा माँगे जाने पर भी उसे न दिया। तभी से मालदेव ने बीरमदेव को बर्बाद करने की कसम खा ली।

राव गांगा के बाद जब मालदेव जोधपुर की गद्दी पर बैठा तो वह मेड़ता नरेश बीरमदेव को सबक सिखाने के लिए उसके पीछे पड़ गया। पहले उसने सीहा-पुत्रों को मेड़ता हथियाने पर लगाया। उनके कमजोर पड़ने पर वह स्वयं अवसर तलाशता रहा। अंततः स्वयं को मजबूत कर जब राव मालदेव ने जोधपुर का साम्राज्य विस्तार अभियान शुरू किया तो वह मेड़ता पर भी टूट पड़ा। उसने सन् 1536 में मेड़ता पर आक्रमण कर दिया और मेड़ता को पूरी तरह से तहस-नहस कर दिया। राव बीरमदेव की सेना मालदेव के भारी सैन्यबल क सामने जीत नहीं सकती थी। अतः उसने उस सैन्य आक्रमण के पूर्व अपने कुटुम्बी जन रानियों, पुत्र जयमल, मीराँबाई इत्यादि और सीमित सैनिकों के साथ मेड़ता नगर खाली कर दिया था। इसके बाद बीरमदेव ने मेड़ता से निर्वासित होकर अजमेर पर कब्जा कर लिया। परन्तु मालदेव ने वहाँ भी बीरमदेव का पीछा नहीं छोड़ा। फलतः बीरमदेव के समस्त परिवार के साथ मीराँबाई को भी निराश्रित दशा में काफी समय तक इधर उधर भटकना पड़ा।

चित्तौड़ में बहादुरशाह की विजय कोई स्थायी विजय नहीं थी। लूटपाट और विध्वंस के बाद वह गुजरात लौट गया। किले की रक्षा हेतु अपने जिन सिपाहियों को वह पीछे छोड़ गया था उन्हें मेवाड़ के स्वामिभक्त राजपूतों ने कुछ ही दिनों बाद आक्रमण कर मौत के घाट उतार दिया और राणा विक्रमादित्य को निर्वासन से बुलाकर पुनः गद्दी पर बैठा दिया। लेकिन सन् 1536 में उस दासीपुत्र बनवीर ने एक रात धोखे से सोते में राणा विक्रम की हत्या कर दी। फिर वह रक्त रंजित तलवार से चित्तौड़गढ़ के भीतर राणा विक्रम के अनुज उदय सिंह की हत्या के लिए निकल पड़ा। कुँवर उदय सिंह अभी बालक ही था। पन्ना धाय उसकी देखभाल किया करती थी। पन्ना धाय को बनवीर के आगमन की पूर्व सूचना मिल गई। उसने अपने निद्राग्रस्त समवयस्क पुत्र चंदन को उदय सिंह की जगह उसके पलंग पर चादर डालकर सुला दिया और उदय सिंह को बचाकर एक गुप्त मार्ग से ले भागी। इस प्रकार मेवाड़ के भविष्य के लिए अपने एकमात्र प्रिय पुत्र की बलि दिलाकर एक माँ ने भारतीय इतिहास का सर्वोच्च बलिदान दिया।

अपने पीहर वालों के निर्वासनकाल में मीराँबाई ने अपने ताऊ सा बीरमदेव से वृन्दावन जाने की आज्ञा माँगी। वह अपने संकटग्रस्त सम्बन्धियों पर और अधिक बोझ बनी रहना नहीं चाहती थीं। श्रीकृष्ण के अनंत लीला धाम ब्रज प्रदेश के दर्शन की भी पुरानी साध उनके मन में थी। बीरमदेव ने तब भारी मन से भतीजी की तीर्थयात्रा के लिए सभी आवश्यक प्रबंध किये। ऊँटगाड़ी, बैलगाड़ियाँ, भोजन-पानी, सुरक्षा सैनिक सभी कुछ। मीराँबाई इस प्रकार लगभग पाँच वर्ष बीरमदेव, जयमल आदि के साथ व्यतीत कर सुख-दुःख के मिश्रित अनुभवों के साथ अपनी कुछ सखियों एवं दास-दासियों को संग लेकर सन् 1538 के आसपास वृन्दावन के लिए प्रस्थान कर गईं। राजस्थान की धरा-धाम से गंगा-यमुना के मैदान वाले उत्तर भारत की उस लंबी यात्रा में ही मीराँबाई ने तब मगन भाव से गाया होगा -

चलो मन गंगा जमुना तीर।
गंगा जमुना निरमल पाणी, सीतल होत सरीर।

पड़ाव-दर-पड़ाव चलता हुआ मीराँ जी का काफिला सर्वप्रथम पहुँचा किन्तु वह श्रीकृष्ण जन्मभूमि मंदिर के दर्शन नहीं कर सकीं। क्योंकि कुछ ही वर्ष पूर्व दिल्ली के धर्मान्ध सुल्तान सिकन्दर लोदी ने उस मंदिर को ध्वस्त कर वहाँ एक मस्जिद का निर्माण कर दिया था। वहाँ सैनिकों का कड़ा पहरा था। यद्यपि अब देश के इस हिस्से

में मुगलों का शासन था। बाबर का पुत्र हुमायूँ गद्दी नशीन था। परन्तु उत्तर भारत के बिहार में एक शक्तिशाली अफगान सरदार शेरशाह सूरी इन्हीं दिनों तेजी से उत्तर भारत के राजनीतिक क्षितिज पर सूर्य-सम उदित हो रहा था, जिससे निकट भविष्य में बादशाह हुमायूँ का मुचैटा तय था। मीराँबाई मथुरा से गोकुल गईं। कुछ दिन वहाँ रहीं। कृष्ण के पिता नन्द बाबा के उस स्थान पर मीराँ ने गाया -

बसो मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरत साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल।

मीराँबाई ने उसके बाद अपने संगी-साथियों और अपनी सबसे प्रिय एवं अभिन्न सखी ललिता के साथ कृष्ण-कन्हाई की अनेक लीला स्थलियों के दर्शन किए। वे गोवर्धन पर्वत, राधाकुण्ड, बरसाना आदि अनेक स्थानों पर गईं। श्रीकृष्ण का पावन लीलाधाम वृन्दावन अत्यंत विस्तृत और स्वर्ग के समान सुंदर था। इसके किनारे बहती हुई निर्मल यमुना नदी मीराँ जी के नेत्रों को अपार सुख देती थी। वृन्दावन में प्रवास करते हुए मीराँबाई ने कृष्ण भगवान की माखन चोरी, धेनु चारण, कन्दुक क्रीड़ा, कालिया नाग मर्दन, कदम्ब के वृक्ष पर चढ़कर गोपिका चीर हरण समेत न जाने कितनी-सारी कृष्ण लीलाओं की कल्पना कर डाली। वृन्दावन का एक-एक स्थान भक्त मीराँबाई को रोमांचित कर देता। भावविभोर कर देता। जिसका परिणाम या तो मीराँ की समाधि लग जाने में होता या फिर वे पुलक कर भजन गायन और वीणा वादन करने लगतीं या फिर मीराँ अपने एकतारे-खड़ताल आदि के साथ गाते-गाते कृष्ण की भाव-भक्ति में डूबकर नृत्य करने लगतीं। सखी ललिता हरदम मीराँ के साथ ही रहती थीं। उसका काम सदा की भाँति मीराँ की देखभाल करना और उसके नए-नए पदों को लिपिबद्ध करना रहता था।

प्रारंभ में मीराँ जी अक्रूर घाट पर ठहरीं। जहाँ कभी कुछ ही दशक पूर्व नदिया, बंगाल के कृष्णानुरागी संत चैतन्य महाप्रभु भी पधारे थे और सर्व प्रथम वहीं ठहरे थे। चैतन्य देव ने वृन्दावन और आसपास के ब्रज क्षेत्र में श्रीकृष्णकालीन उनके लुप्तप्राय: लीला स्थलों की खोज और पूज्य स्थलों के जीर्णोद्धार का व्रत लिया था। इस दिशा में उन्होंने कुछ काल वृन्दावन में व्यतीत किया। फिर वे जगन्नाथपुरी को चले गये। अपने कुछ शिष्यों को इसी कार्य में उन्होंने कालान्तर में प्रवृत्त किया। चैतन्य देव के अनुयायी शिष्यों में सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी आदि षड गोस्वामी कृष्ण भक्ति आन्दोलन में विख्यात हुए हैं, जिन्होंने अपने अध्ययन और परिश्रम से वृन्दावन

को जागृत करने का महान कार्य किया। अनेक अन्य कृष्ण भक्ति सम्प्रदाय भी इस दिशा में सक्रिय रहे हैं। मीराँ जी अपने वृन्दावन प्रवास के दौरान अक्रूर घाट और इमली टीला समेत अनेक स्थानों एवं मंदिरों का भ्रमण करती रहीं। अनेक साधु-संतों से भी मिलीं।

इसी क्रम में वह एक बार वीतरागी संत जीव गोस्वामी से भी मिलने गईं। जीव गोस्वामी ने मीराँ जी से मिलने से इनकार कर दिया। उनके एक शिष्य ने आश्रम द्वार पर खड़ी मीराँबाई और उनकी सखियों से कहा कि गुरूदेव स्त्रियों से वार्तालाप नहीं करते। इस पर मीराँ हँसते हुए यह कहकर वहाँ से चल दीं कि - "आश्चर्य है कि वृन्दावन धाम में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई दूसरा पुरुष भी रहता है?" यह सुनकर आत्मज्ञानी जीव गोस्वामी को अपनी भारी भूल का अहसास हुआ और वे अपने आश्रम के बाहर आए। सच ही तो कहा था भक्तिमती मीराँ जी ने - देखा जाए तो पुरुष अथवा परम पुरुष तो समस्त ब्रह्माण्ड में एक ही हैं - परमब्रह्म श्रीकृष्ण। शेष समस्त आत्माएं तो गोपी-स्वरूप अर्थात् स्त्रियाँ ही हैं। जीव गोस्वामी ने जाती हुई मीराँबाई को रोका और उनसे क्षमा माँगकर अपने आश्रम के भीतर ले गए। उनका यथोचित सत्कार किया। दो संतों का यह अद्भुत मिलन था। यह मीराँबाई ही थीं जिन्होंने तब गाया कि -

पानी में मीन पियासी, मोहे सुन-सुन आवत हाँसी।
आत्मज्ञान बिन नर भटकत है, कहाँ मथुरा कहाँ कासी।

मीराँ जी ने अपने वृन्दावन-प्रवास के दौरान अनेक कृष्ण-मंदिरों के दर्शन किए गोविंद देव जी का मंदिर, मदन मोहन जी का मंदिर, उन दिनों निधिवन में स्थापित हुआ बाँकेबिहारी जी का नया-नया मंदिर इत्यादि। वह जहाँ ठहरीं वहाँ स्वयं उनके ही गिरधर जी का एक छोटा सा मंदिर स्थापित हो गया, जिसमें मीराँबाई अपने आराध्य की नियमित पूजा-अर्चना-भोग-कीर्तन-आरती-शयन नित्य गति किया करतीं। मीराँ प्रातः स्नान कर अपने कान्हा जी को मधुर स्वर से जगातीं -

जागो वंशीवारे लाला, जागो म्हारे प्यारे।
रजनी बीती भोर भयो है, घर-घर खुले किवारे।

गायन करती हुई मीराँबाई के स्वर में ब्रज की लोक संस्कृति महकने लगती। अब मीराँ जी की ख्याति वृन्दावन के भीतर-बाहर फैलने लगी। परन्तु एक संत-स्त्री

का यह आध्यात्मिक-उत्कर्ष कृष्णभक्त समुदाय के अनेक मठाधीशों, पंडे-पुजारियों को रास नहीं आया। उनकी पुरुष सत्तात्मक व्यावसायिक मनोवृत्ति में मीराँ एक काँटे सी खटकने लगीं। पहले तो अलग-अलग सम्प्रदायों ने मीराँबाई को अपने मत में दीक्षा ग्रहण करने के लिए प्रस्ताव भेजे। परन्तु मीराँ तो योगेश्वर कृष्ण को ही अपना गुरु एवं सर्वस्व मानती थीं। उन्होंने किसी संत अथवा सम्प्रदाय की चेलाही स्वीकार नहीं की। इस पर अनेक पंडे-पुजारी और मठ के लोग छिछोरी हरकतों पर उतर आए। वे पहले तो अप्रत्यक्ष रूप से मीराँबाई की निंदा करने लगे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' इसकी साक्षी है। मीराँबाई के विरोधी उन पर अमर्यादित आरोप लगाने लगे। राह-चलते मीराँ पर फब्तियाँ कसने का भी कुछ उपक्रम चला। उन्हें दारी, रांड तक कहा गया। स्वाभिमानी मीराँ के हृदय को इस अनपेक्षित व्यवहार से बड़ी ठेस लगी और खट्टे-मीठे अनुभवों के साथ वृन्दावन में तीन वर्ष रहने के बाद मीराँबाई को दुःखी मन से एक दिन वृन्दावन भी छोड़ना पड़ा।

मीराँबाई अपने संगी-साथियों के साथ वृन्दावन से श्रीकृष्ण के अंतिम लीलाधाम गुजरात के रणछोड़ द्वारकाधीश की नगरी द्वारका के लिए निकल पड़ीं। यह सन् 1541 ई. की बात है। अब तक मेवाड़ में विक्रमादित्य और उसके पश्चात् बनवीर के शासन का काला-दौर समाप्त हो चुका था। राजधानी चित्तौड़ में राणा उदय सिंह का शासन प्रारम्भ हो चुका था। किन्तु मेड़ताधिपति उनके ताऊ सा बीरमदेव और भाई जयमल अभी भी निर्वासन की हालत में थे। मीराँ द्वारका चली गईं-

रायश्री रणछोड़ दीज्यो, द्वारका को वास।
संख चक्र गया पद्म दरसै, मिटै जम की त्रास।

दुष्ट राजा जरासंध के निरंतर आक्रमणों से विचलित होकर श्रीकृष्ण प्रभु को द्वापर काल में मथुरा से पलायन कर द्वारका जाना पड़ा था। कलिकाल में उनकी परम-भक्त मीराँ को भी संकीर्ण एवं स्वार्थी पंडे-पुजारियों के वाक् प्रहारों से व्यथित होकर उनका परम लीलाधाम ब्रजक्षेत्र त्यागकर द्वारकापुरी को जाना पड़ा।

द्वारका में लगभग पाँच वर्ष संत मीराँबाई ने प्रवास किया। गोलोकवासी नरसी मेहता जैसे कृष्ण भक्त संत की संत-वाणी से भी भक्तिमती मीराँ प्रभावित हुईं। गुजरात के अनेक तीर्थों के दर्शन मीराँ ने किए। किंतु गोमती नदी के तट पर विराजमान द्वारकाधीश का मंदिर मीराँ की कृष्ण भक्ति का केन्द्र स्थल रहा। अंत में दुर्भाग्य ने मीराँबाई का यहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा। उन्हें चैन से अपने अंतिम समय

में भी भगवत् भजन नहीं करने दिया। मीराँ जी के देवर मेवाड़-नरेश राणा उदय सिंह को जलोदर रोग हो गया। चित्तौड़ में उनके दरबारियों ने उन्हें समझाया कि भक्तिमती मीराँ एक शुद्धात्मा थीं। उनका चित्तौड़ में जो हृदय दुःखाया गया, उनका जो अपमान हुआ उसके कारण उन्हें चित्तौड़ का परित्याग करना पड़ा। तभी से मेवाड़ को अनेक संकटों का सामना करना पड़ रहा है। शत्रुओं का संकट, अकाल, महामारी आदि दैवीय आपदाएं, जिनमें हजारों प्रजाजन काल-कवलित हुए, ये सब उसी का परिणाम है। कदाचित् राणा को स्वास्थ्य लाभ भी न हो पाना संत मीराँ के तिरस्कार के कारणों में से एक है। अतः राणा उदय सिंह को सलाह दी गई कि वे अपनी भाभी मीराँबाई को शीघ्र ही आदरपूर्वक चित्तौड़ बुलवाकर उनसे क्षमा प्रार्थना करें। तभी मेवाड़ को नाना प्रकार की विपत्तियों और संकटों से मुक्ति मिल सकेगी।

राणा उदय सिंह ने इसके बाद वेदपाठी ब्राह्मणों का एक दल मीराँबाई को द्वारका से ससम्मान वापस लिवा लाने हेतु चित्तौड़गढ़ से रवाना किया। यह ब्राह्मण जब मीराँ जी से जाकर द्वारका में मिले और उनसे श्रीजी महाराणा उदय सिंह का संदेश कहा तो मीराँबाई ने उन ब्राह्मणों से कहा कि वे उदय सिंह को उनका आशीर्वाद दें और कहें कि अंत समय में वे द्वारका का तीर्थ छोड़कर वापस कहीं नहीं जाना चाहतीं। इस पर चित्तौड़ से आए उन ब्राह्मणों ने द्वारका में मीराँ को अपने साथ चित्तौड़ ले जाने के लिए धरना देते हुए भूख-हड़ताल शुरू कर दी। मीराँ जी भी दृढ़ निश्चयी थीं। उनका स्पष्ट अभिमत था कि -

जाऊँ ना पीहरिये जाऊँ न ससरिये।
हरि सूँ सैन लगाती।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर,
हरि चरण्याँ चित लाती।

किंतु राजस्थान से गुजरात आए उन अनशनरत ब्राह्मणों की ज़िद के आगे मीराँ जी की एक न चली। वे अत्यंत व्यथित एवं तनाव ग्रस्त हो गईं। अंत में उन्होंने द्वारकापुरी के रणछोड़ मंदिर में अपने श्रीकृष्ण प्रभु की ही शरण गही। मीराँबाई प्रधान पुजारी से आज्ञा लेकर मंदिर के गर्भगृह में विराजमान अपने परम प्रियतम अनंत लीला सम्पन्न श्रीकृष्ण प्रभु के दर्शन के लिए और उनसे अपने मन की पीर निवेदन करने गईं और वहीं उनके चरणों में गिरकर उनका प्राणान्त हो गया। देखते ही देखते

एक महान आत्मा परमात्मा में विलीन हो गईं। संत मीराँ के भीतर की दिव्य ज्योति अनंतमूर्ति श्रीकृष्ण की महाज्योति में समा गई।

संत मीराँ का गोमती और महासागर के संगम तट पर द्वारका में ही दाह संस्कार हो गया। इस अनहोनी घटना से डरा-सहमा और हताश वह ब्राह्मण-दल चित्तौड़ वापस लौट गया, मेवाड़ नरेश और सबसे यह कहने को कि मीराँबाई रणछोड़ जी की मूर्ति में सदेह समा गईं। जबकि मीराँ के आकस्मिक निधन से व्यथित उनकी परम सखी ललिता मीराँबाई के पदों को वर्षों तक भारत के कोने-कोने में गाती फिरीं। कोई आश्चर्य नहीं कि मीराँ की इस अनन्य अनुयायी स्त्री को लोग उनके बाद मीराँबाई ही मान बैठे हों।

मीराँ की काव्य कृतियाँ

कहते हैं कि मीराँबाई के जीवनकाल में उनके साथ छाया-सम रहने वाली एक दासी ललिता, जो मीराँ की अनन्य सखी भी थी, ने मीराँ के गाए हुए अनेक पदों को लिपिबद्ध किया था। प्रोफेसर ललिता प्रसाद सुकुल ने गुजरात के डाकोर स्थित रणछोड़राय जी के मंदिर में इस संग्रह के विद्यमान होने की संभावना व्यक्त की है। इस कथित ललिता लिखित प्राचीनतम मीराँबाई के पदों के संग्रह में मात्र 69 पद थे। डॉ. सी.एल. प्रभात का कहना है कि अब डाकोर के उक्त मंदिर में यह संग्रह उपलब्ध नहीं है। प्रोफेसर सुकुल के अनुसार डाकोर के श्री गोवर्द्धनदास जी भट्ट के पूर्वजों ने विक्रम संवत 1642 में उक्त प्रति से 69 पदों की प्रतिलिपि की थी और वह प्रति प्रो. सुकुल ने भट्ट जी के पास देखी थी। भट्ट जी के पास विक्रम सं.1805 में लिखी हुई एक और प्रति थी जिसमें मीराँ जी के उपरोक्त 69 पदों सहित कुल 103 पदों का संग्रह था।

प्रोफेसर ललिता प्रसाद सुकुल को मीराँ की पदावलियों की खोज के दौरान अन्य कई प्रतियों के साथ-साथ विक्रम सं. 1727 की लिखित दो प्रतियां और मिलीं थीं कानपुर में तथा काशी में। इन दोनों प्रतियों में उन्हीं उपरोक्त 103 पदों का संकलन विद्यमान था। अतएव निष्कर्ष रूप में प्रो. सुकुल को कुल 103 पद जो उक्त चार हस्तलिखित प्रतियों से प्राप्त हुए, उन्होंने उन्हें मीराँबाई के प्रमाणिक पद मानकर 'मीराँ-स्मृति-ग्रंथ' में प्रकाशित कराया।

मीराँबाई के साहित्य पर अनुसंधान करने वाले डॉ. भगवानदास तिवारी का भी विचार है कि मीराँ की प्रामाणिक पदावली डाकोर और काशी की हस्तलिखित प्रतियों में विद्यमान है। इनमें मीराँबाई के मूल पदों की संख्या 103 है। 'मीराँ सुधा सिन्धु' नामक ग्रंथ में गेय परंपरा से प्राप्त मीराँ के नाम से उल्लिखित 1312 पद हैं, जिनमें प्रक्षिप्त पदों की भरमार है। इसी तरह देश विदेश में अनेक हस्तलिखित गुटकों,

चौपड़ियों एवं पाण्डुलिपियों में "मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर" अथवा "मीराँ के प्रभु हरि अविनासी" की पदान्त पंक्तियों से संयुक्त 5000 से अधिक पद मिल जाते हैं। मीराँबाई ने जितना संघर्षमय जीवन जिया और जितनी कम आयु में महाप्रयाण किया उससे इतनी विपुल पद रचना असंभव प्रायः ही लगती है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने 'मीराँबाई की पदावली' में 201 पदों को संकलित किया है। डॉ. राम किशोर शर्मा एवं डॉ. सुजीत कुमार शर्मा सम्पादक द्वय ने 'मीराँबाई की सम्पूर्ण पदावली' में मीराँबाई के 269 पदों को प्रामाणिक मानकर संग्रहीत किया है। मीराँबाई विषयक विद्वान श्री ब्रजेन्द्र कुमार सिंहल ने पर्याप्त शोध के उपरान्त अपने ग्रंथ 'मीराँबाई : प्रामाणिक जीवन एवं मूल पदावली' में मीराँ जी के कुल 312 पदों को सम्मिलित किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मीराँबाई के उपलब्ध पदों में लगभग 300 पदों की प्रामाणिकता सिद्ध है।

मुंशी देवी प्रसाद ने मीराँ की चार रचनाओं का उल्लेख किया है - 1- नरसीजी रो माहेरो, 2- गीत गोविन्द की टीका, 3- फुटकर पद, 4- राग सोरठा पद संग्रह। वैसे तो मलार और गर्बागीत नामक दो अन्य रचनाओं को भी मीराँबाई के नाम से जोड़ा जाता है, परन्तु उक्त रचनाओं की प्रामाणिकता उनमें निहित भाव एवं भाषा को देखते हुए संदिग्ध है। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि समय के साथ-साथ और स्थान-स्थान के अनुभव के कवि अथवा कवयित्री की काव्य भाषा एवं शैली का स्वाभाविक विकास होता है। अतः हो सकता है कि कुछ रचनाएं मीराँबाई द्वारा इनमें रचित भी हैं? जो भी हो मीराँबाई के अनेक फुटकर पद जन-जन में लोकप्रिय हैं और बहुत ही भक्तिभाव से गाए जाते हैं, जिनके कारण मीराँबाई का काव्य इन नश्वर संसार में अमर है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि मीराँबाई अपने जीवनकाल में मुख्य रूप से मेड़ता, चित्तौड़, वृन्दावन और द्वारका में रहीं। विभिन्न स्थलों पर रहते और भ्रमण करते हुए मीराँ का संघर्ष और उनकी भक्ति साधना परस्पर साथ-साथ चलते रहे होंगे। एक सहृदय एवं अति-संवेदनशील स्त्री होने के नाते मीराँबाई की काव्य-यात्रा भी उनके साथ चलती रही। श्रीकृष्ण के प्रति समर्पित भाव से मीराँ ने जब जो गाया वह पद रचना विशुद्ध भक्तिभाव से उस समय फलीभूत हुई। इसके अतिरिक्त जब कभी सामाजिक संतापों से यह कवयित्री व्यथित हुई तो उनकी भी प्रतिध्वनि उनके पदों में गुंजरित हुई, किन्तु कृष्ण भक्ति का दामन मीराँ ने ऐसे भावुक-क्षणों में भी नहीं छोड़ा।

यही कारण है कि अपने जिन अनेक पदों में मीराँ राणा को उलाहना देते दिख जाती हैं, उनके 'गिरधर नागर' प्रभु उनके चित्त में तब भी सदैव बने रहते हैं।

मीराँबाई के जीवन की भाँति उनका साहित्य भी निरंतर शोध का विषय रहा है। फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि मीराँ के संघर्षमय जीवन को देखते हुए उनकी काव्य रचना विपुल मात्रा में हुई हो, ऐसा नहीं लगता। मीराँ ने कम लिखा अधिक गाया। उनका लिखा इतना सरल, निष्कपट और बोधगम्य है कि उसे अपनाने में जन साधारण को कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। इसी से मीराँ के काव्य की व्याप्ति लोक में भरपूर हुई। मीराँबाई के पद इसीलिए आज भी इतने लोकप्रिय हैं।

मीराँ एक भक्त कवयित्री

मीराँ सर्वप्रथम एक संवेदनशील स्त्री थीं। परिवार और सामंती समाज के बीच रहने वाली स्त्री। एक पढ़ी-लिखी सम्पन्न परिवार की स्त्री। अत्यंत स्वाभिमानी और अपनी धुन की पक्की स्त्री।

मीराँ को बाल्यावस्था से ही राव दूदा, उनके पितामह तथा कुसुम कुँवरि, उनकी माता से वैष्णव हिन्दू धार्मिक संस्कार सहज रूप से प्राप्त हुए थे। मेड़ता के महलों में संतों-उपदेशकों का आना-जाना लगा रहता था। उनसे कथाएं सुनना, उनका आतिथ्य-सत्कार मीराँ नित्य-प्रायः देखती थीं। पंडित गजाधर, जो मीराँ के शिक्षा गुरू थे, से रामायण, महाभारत, गीता एवं पौराणिक कथाओं का विधिवत् ज्ञान मीराँ को प्राप्त हुआ था। मेड़ता में राव दूदा द्वारा स्थापित चारभुजानाथ मंदिर वैष्णव भक्ति का प्रमुख केंद्र था ही। मीराँ ने वहाँ तथा निकटवर्ती पुष्कर तीर्थ के अनेकानेक बार दर्शन किए थे। अपने दादा को सालिगराम जी की पूजा करते और माँ को कृष्ण आराधन करते वह सुबह-शाम देखती थीं। अतः सनातनी संस्कार मीराँ की जीवन-चर्या का अभिन्न अंग प्रारंभ से ही बन चुके थे।

मीराँ कृष्णार्पिता थीं। गिरधर गोपाल उनके सर्वस्व बन चुके थे, जब वह कुँवारी थीं अपने पीहर में। इसलिए जब मीराँ ने छोटी उम्र से ही पद रचना प्रारंभ की तो उनके हृदय से निकलने वाले कृष्ण-भक्ति विषयक उद्‌गार इतने सहज और इतने बोधगम्य होते कि वे श्रोताओं के हृदय पर सीधा असर करते। प्रायः अभिधा में रचित उनकी काव्य रचना में कोई दुरुहता नहीं, लक्षणा-व्यंजना की कोई सायास चेष्टा नहीं, अलंकारों का कोई अतिरिक्त बोझ नहीं। मन के भाव उनकी कविता में अपने आप शब्दों में ढलते जाते। क्योंकि मीराँबाई को शिक्षा-दीक्षा सुयोग्य गुरु से प्राप्त हुई थी, अतः उनके पदों की छन्दबद्धता एवं व्याकरणिक अनुशासन उनके काव्य का एक स्वाभाविक गुण अवश्य था।

मीराँ के पदों में भक्ति के साथ-साथ उनके भीतर का असंतोष भी अनेक बार व्यक्त हुआ है। ऐसे पदों में राणाशाही के द्वारा मीराँ पर किए गए अन्यायों, षडयंत्रपूर्ण प्रहारों और दुर्व्यवहारों का सांकेतिक ही नहीं, स्पष्ट उल्लेख है। एक तरह से यह मीराँ का मुखर विरोध ज्ञापन है। आज के अनेक विचारक कवयित्री मीराँ के इस विद्रोही स्वरूप पर अधिक बल देने की आवश्यकता बताते थकते नहीं है। उनका यहाँ तक मानना है कि मीराँबाई के जीवनीकार मध्ययुगीन भक्त कवियों एवं टीकाकारों यथा- नाभादास, प्रियादास आदि ने उनके भक्त रूप के आगे मीराँ के विद्रोही स्वरूप को पूरी तरह दबा दिया है। इसमें कोई संदेह नहीं मीराँबाई एक निडर और अपनी मान्यताओं में एक निरंकुश स्त्री थीं, फिर भी वह बहुत सीमा तक पारिवारिक मर्यादाओं के भीतर ही रहीं। उनकी भगवत् भक्ति, साधु संगति एवं संतों का सत्कार, कृष्ण भक्ति की उद्दाम अवस्था में भजन करते-करते उनका नृत्य करना भक्ति की चरमावस्था में समाधिस्थ हो जाने पर कुछ काल के लिए अपने तन-मन की सुधबुध खो देना केवल इसी सबको यदि तथाकथित सभ्य समाज नैतिकता की दुहाई देकर 'लोकलाज खोने' की संज्ञा देता हो, तो मीराँबाई को वह आरोप सहज स्वीकार्य था। तभी तो वह अनेक बार अपने पदों में ताल ठोंक कर इसे दोहराती हैं - "साधु सँग बैठ-बैठ लोक लाज खोई" - और "मीराँ हरि लगन लागी होनी हो सो होई।" भक्ति मार्ग पर निकली मीराँ को उलाहनों और कटूक्तियों को सहन करने की आदत पड़ चुकी थी। वह उनकी बहुत परवाह नहीं करती थीं।

मीराँ मूलतः भक्त कवयित्री थीं। उनका अध्यात्म जो उनकी आत्मा को साधे परमात्मा से जोड़ता था भला अनैतिक आचरण कैसे हो सकता था? समाज-चिंतन उनके पदों में आया है। परन्तु वैसे ही जैसे कि दाल में नमक। 'आपबीती' ने इस सामंती महिला को 'जगबीती' पर भी सोचने के लिए मजबूर अवश्य किया होगा। इसीलिए मीराँ के उपदेशक स्वरूप के कुछ पद भी उनके काव्य में मिल जाते हैं। उनके दार्शनिक एवं योग साधना के भी कुछ पद हैं। परन्तु यह सब उसी भांति न्यूनाधिक संख्या में मीराँ के काव्य में विद्यमान हैं, जैसे राणा के प्रति उपालम्भ पूर्ण उनके कुछ पद। मीराँ की पदावली को यदि छाना जाए तो समाज चिंतन, दर्शन, योग साधना इत्यादि के पदों को अलग करने से जो प्राप्त होता है उसमें श्रीकृष्ण भक्ति सम्बन्धी उनके काव्योदगारों का ही प्राधान्य है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं मीराँबाई मूलतः एक भक्त-कवयित्री ही थीं। देखा जाए तो भारत की भक्त कवयित्रियों की अपनी एक

सुदीर्घ परम्परा है, जिसमें तमिल की कृष्ण भक्त कवयित्री आंडाल, कश्मीर की शैव परम्परा की ललद्यद (लल्लेश्वरी) इत्यादि की ही सुदृढ़ पंक्ति में राजस्थान की मीराँबाई आती हैं। इन भक्त कवयित्रियों की एक सामान्य विशेषता यह रही कि उनके काव्य और जीवन-वृत्त एकमेक हो गए हैं। दूसरे शब्दों में उनके जीवन के सूत्र भी उनके भक्ति-काव्य में दृष्टिगोचर हो जाते हैं।

यह सही है कि विशेषकर चित्तौड़गढ़ से निकलने के बाद अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में मीराँ जहाँ-जहाँ भी गईं उन्होंने कृष्ण नाम संकीर्तन के सहारे देश के दीन-दुखियारे समाज को उसी तरह एक-सूत्र में पिरोने का काम किया जैसा कि उस भक्ति आन्दोलन के युग में दूसरे संत करते आए थे। जो कार्य दक्षिण भारत में रामानुज कर चुके थे और जो कार्य रामानन्द ने उत्तर भारत में किया। जो कार्य कबीर, रैदास, सूरदास, चैतन्य महाप्रभु और नरसिंह मेहता सरीखे अनेक संत-कविगण अपने-अपने तरीकों से करते आये थे, वही कार्य संत मीराँबाई ने अपने तरीके से किया।

परन्तु कवयित्री मीराँबाई की महानता इन सभी भक्त-कवियों से अलग थीं। दूसरे भक्त-कवि कबीर, रैदास आदि जन साधारण में से ही आए थे। अतः तत्कालीन सामंती व्यवस्था के वैभव और विभेद के प्रति उनके मन में अरुचि अथवा वैराग्य होना नितान्त स्वाभाविक था। जबकि मीराँ तो स्वयं ही सामंती व्यवस्था का एक भाग थीं। यदि वे चाहतीं तो भोग-विलासमय जीवन को अपना सकती थीं। परन्तु उन्होंने वैभव-पथ को त्यागकर साधना-पथ को अपनाया। पुरुष प्रधान समाज में एक तथाकथित अबला स्त्री होकर भी उन्होंने उस निर्मम व्यवस्था का सात्विक विरोध किया जो उनके आराध्य श्रीकृष्ण के वास्तविक गोप-समुदाय से उनके मिलन में बाधक थी। मीराँ ने अपने जीवन संघर्ष के अनन्तर नाना प्रकार के अत्याचारों को सहते हुए भक्तिमार्ग को नहीं छोड़ा। भजन-कीर्तन, साधु-संगत, जन-साधारण से नैकट्य और सात्विक दिनचर्या मीराँबाई की हरिभक्ति के प्रमुख अंग हमेशा बने रहे-

मन रे परस हरि के चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल, जगत ज्वाला हरण।

यों तो अनेक अन्य रचनाकारों ने मीराँ की भक्ति के सम्बन्ध में संकेत दिए हैं, जिनसे उनके जीवन की भी झलक मिलती है। यथा-राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक हित हरिवंश के अनुयायी ओरछा निवासी हित हरिराम ने 1555 ई. में

मीराँबाई सम्बन्धी दो पदों में मीराँ का वर्णन भक्तों का सम्मान करने वाली स्त्री के रूप में किया है।

यद्यपि परम्परागत इतिहास ग्रंथों में मीराँ को स्थान नहीं दिया गया, तथापि 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास (नारायण दास जी) ने अनेक संत-भक्तों को अपने इस ग्रन्थ में समाविष्ट कर सन् 1583 ई. (विक्रम संवत् 1640 में) सर्वप्रथम भक्तिमती मीराँ का भी महिमा-गान इन शब्दों में किया था-

लोक लाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरधर भजी।
सदृश्य गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहि दिखायौ।
निरअंकुस अति निडर रसिक जस रसना गायौ।
दुष्टनि दोष विचार मृत्यु को उद्यम कीयौ।
बार न बाँकौ भयौ गरल अमृत ज्याँ पीयौ।
भक्ति निसान बजाय के काहू ते नाहिन लजी।
लोक लाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरधर भजी।।

राधावल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्धित ध्रुवदास ने सन् 1643 के लगभग अपने ग्रंथ 'भक्त नामावली' में मीराँ को "प्रकट भक्ति की खानि" कहते हुए उन्हें एक सुप्रसिद्ध भक्त बताया। मीराँबाई के बारे में जानकारी का एक प्रमुख स्रोत है नाभादास के शिष्य प्रियदास द्वारा नाभादास के भक्तमाल पर सन् 1712 ई. में लिखी गई 'भक्तिरस बोधिनी टीका'। इसमें प्रियादास ने मीराँबाई को एक भक्त कवयित्री एवं असाधारण चरित्र की स्त्री के रूप में, जिनमें चमत्कार का अंश भी शामिल था, अपने काव्यात्मक वर्णन द्वारा प्रतिष्ठित किया है -

मेरतै जनम भूमि झूमि हित नैन लगे
पगे गिरधारी लाल पिता ही के धाम में।

x x x x x

सुन बिदा होन गई राय रणछोड जू पै
छाडौ राखौ हीन लीन भई नहीं पाइयै।।

इस लम्बे छन्द में मीराँ के जीवन का जो विस्तृत वर्णन आया है उसके अनुसार प्रियादास जी का मीराँ जी के भक्त रूप के बारे में उनका संक्षेप में कथन है कि - मीराँ बाल्यावस्था से ही कृष्ण पर आसक्त थी। मीराँ के जीवन में घटित अधिकांश

घटनाएं, जिनका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है के बाद अंत में यह वर्णन आता है कि राणा द्वारा प्रताड़ित मीराँ वृन्दावन के बाद द्वारका में निवास कर कृष्ण भक्ति करने लगीं। राणा के आग्रह पर ब्राह्मण द्वारका गए और उन्होंने धरना देकर मीराँ से लौटने की प्रार्थना की। मीराँबाई रणछोड़ कृष्ण जी से विदा लेने के लिए मंदिर में गईं और उन्हीं की मूर्ति में समाकर गायब हो गईं।

प्रियादास जी ने मीराँ के भक्ति स्वरूप का महिमा मंडन में कोई कसर नहीं छोड़ी। उन्होंने अतिरंजना के साथ यह भी लिखा कि अकबर ने तानसेन के साथ आकर मीराँ और उनके द्वारा पूजित गिरधारी लाल के दर्शन किए। यह घटना इतिहास की तिथियों से मेल नहीं खाती। अतः काल्पनिक है। इसी प्रकार कई भक्तमालों टीकाओं, सुखसारण री परची आदि में भक्तिमती मीराँबाई के जीवन एवं काव्य के विषय में पुष्ट-अपुष्ट प्रमाण मिलते हैं, जिन्हें कालान्तर में अनेक विद्वान अनुसंधानकर्ता इतिहासकारों और लेखकों ने शोधित कर अपने निष्कर्ष दिए हैं।

मीराँ भगवान श्रीकृष्ण के सगुण स्वरूप की उपासक थीं। यद्यपि उनके छुटपुट कुछ छंद निर्गुण ब्रह्म पर भी मिल जाते हैं। इनके बारे में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ऐसे पद मीराँ द्वारा ही रचित हैं। मीराँबाई को अपने-अपने सम्प्रदाय में लाने की होड़ कुछ समय तक मची रही। परन्तु मीराँ भक्तिमार्ग में भी स्वतंत्र-चेतना सम्पन्न रहीं। फिर भी मीराँ का एक निर्गुण पद देखें -

मेरो कोई नहिं रोकणहार, मगन होय मीराँ चली।
लाज सरम कुल की मरजादा, सिर से दूर करी।
मान अपमान दोऊ धर पटके, निकली हूँ जान गली।
ऊँचा अटरिया लाल किंवडिया, निरगुण सेज बिछी।

वस्तुतः मीराँ की सगुण भक्ति माधुर्य भाव की है। उन्होंने कृष्ण को अपना प्रियतम मानकर उन्हें पूरी तन्मयता के गोपीभाव से पूजा था। कृष्ण भक्ति में मीराँ ने संयोग श्रृंगार और वियोग श्रृंगार दोनों ही प्रकार के पदों की रचना की थी। मीराँ ने अपने पति भोजराज की अकाल मृत्यु के बाद स्वयं को कृष्ण भक्ति में पूर्णतः न्योछावर कर दिया था। संयोग से अधिक वियोग के पदों को गाने में मीराँ का मन अधिक रमता था। उनके संयोग के पदों में भी समर्पण, आत्मनिवेदन और उनका दैन्य स्पष्ट झलकता था-

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
जहाँ बिठावे ताहीं बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊँ।

विरह व्यथा के पदों में मीराँ के कलेजे की पीर गहराई से व्यक्त होती है-

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछड़े मोरे प्रभु जी कबहु न पायो चैन।

x x x x x x

बिरह बिथा कासूँ कहु सजनी, बहणयी करवत ऐन।
मीराँ के प्रभु कबर मिलोगे, दुख मेटन सुख दैन।

भक्त मीराँ ने किन परिस्थितियों में अपनी काव्य रचना की होगी, यह कल्पना करते हुए एक अलग अनुभव होता है। मीराँबाई का प्रकृति चित्रण अत्यंत मनोहारी है। उसमें दर्शन भी है और उल्हास भी। चित्तौड़गढ़ में तथा गढ़ के बाहर फागुन माह में होलिकोत्सव चल रहा है। मीराँ को उसमें भी जीवन की निस्सारता का अहसास है। ऐसे में कृष्ण दीवानी मीराँ को केवल आपने ब्रह्म स्वरूप प्रियतम से ही दिव्य होली खेलनी है। वह अपने महल के एकान्त में गाती हैं -

फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै, अनहद की झनकार रे।
बरसे बदरिया सावन की, सावन की मनभावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।

सावन के महीने में वर्षा का वर्णन उन्हें श्रीकृष्ण के सामीप्य की संभावनाओं की ओर ले जाता है। मीराँ ने कथाओं में वृन्दावन का पावन वर्णन सुना था। वहाँ जाने की उनकी उत्कट अभिलाषा है। कृष्ण का मनोहर रूप उनके बड़े भाई बलराम के साथ एक पद में बिम्बवत् झलकता है -

चालो मनवा जमना के तीर।
वा जमना रो निरमल पानी, सीतल होय सरीर।
बंसी बजावे गावे कान्हो, संग लिया बलवीर।

मोर मुगट पीताम्बर सोहे, कुण्डल झलके हीर।
मीराँ रा प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल में सीर।

मीराँबाई के भक्तिमय पदों में दार्शनिकता बोध जहाँ भी आया है, बहुत मार्मिकता के साथ व्यक्त हुआ है –

भज मन चरन कँवल अविनासी।
जेताई दीसे धरनि गगन बिच, तेताइ सब उठि जासी।

x x x x x x

इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठि जासी।

मीराँ का मानना था कि पाखंडपूर्ण भक्ति से कोई लाभ नहीं। पहले मन का निर्मल होना आवश्यक है –

यहि बिधि भक्ति कैसे होय।
मन की मैल हिय तैं न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।

मीराँ की कृष्णभक्ति उनके आराध्य के प्रति उत्कट प्रेम का ही प्रतिरूप थी। परमात्मा के विरह में निरंतर तड़पती हुई एक आत्मा। वह अपने श्याम सखा के बिना एक पल नहीं रह सकती थीं। मीराँ के दर्द को भला कौन समझ सकता था? उस प्रीति-पीड़ा की पराकाष्ठा में मीराँ यहाँ तक कह गईं कि –

जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीत कियाँ दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय।

नवधा भक्ति के जितने भी उपादान हैं – श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, साख्य, आत्मनिवेदन – सभी में मीराँ जी ने काव्य रचना की। उदाहरण के लिए उनका दास्य भाव में रचित एक पद देखिए –

म्हाने चाकर राखो जी, गिरधारी लाला चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसण पासूँ।
वृन्दावन की कुंज गलिन में, गोविन्द का गुण गासूँ जी।

साख्य भाव का एक उदाहरण लें। मीराँबाई श्रीकृष्ण को अपना पति मानती हैं। वे उनके जनम-जनम के साथी हैं। मीराँ अपने अनन्य सखा के लिए कहती हैं–

म्हारो जणम जणम रो साथी।
थाँने णा बिसर्‌याँ दिन राती।

मीराँबाई मूलतः एक भक्त कवयित्री थीं। उनके अधिकांश पदों की विषयवस्तु भक्तिभाव आधारित ही है। परन्तु अहर्निश भक्ति-साधना में लगे रहना राजघराने की एक कुलीन स्त्री के लिए स्वयं में एक समस्या थी। यदि मीराँ अपने महल के भीतर रहकर पूजा-पाठ तक सीमित रहतीं तो शायद इतनी आपत्ति किसी को न होती। परन्तु मीराँ को इसके विपरीत मंदिरों में जाकर देवदर्शन करना, साधु-संतों की आवभगत करना, उनके साथ बैठकर भजन-कीर्तन करना, ब्रह्मचर्चा करना अति प्रिय था।

मीराँ एक आशु कवयित्री थीं। ऊपर से कृष्ण प्रेम दीवानी। कृष्ण भक्ति के भावोद्रेक में, वे चाहे घर में हों अथवा बाहर किसी पूजा स्थल में, चैतन्य महाप्रभु की भाँति मीराँ भी नाचने और गाने लगती थीं। वीणा की झनकार हुई नहीं, पखावज मृदंग पर थाप हुई नहीं कि मीराँ भक्ति भाव में आ जाती और हरिगुणगान में सम्मिलित हो जातीं। वे स्वयं भी अपने गिरधरनागर को याद कर कोई पद गाने लगती। प्रायः उनका एकतारा और खड़ताल भजन में उनका साथ देता।

मीराँ का यही स्वरूप उनके कतिपय ससुराली जन को राजकुल की मर्यादा के विरुद्ध लगता था। अतः मीराँ को ससुराल में पारिवारिक स्तर पर शुरुवाती कई अवसरों पर विरोध सहना पड़ा। अंत में राणा विक्रमादित्य के कार्यकाल में तो मीराँ पर अत्याचारों की पराकाष्ठा हो गई। अतः मीराँ के वैयक्तिक संघर्षमय जीवन की अनुगूंज उनके अनेक पदों में सुनाई पड़ी। ऐसे पदों में राणा मेवाड़ को ताना देकर अपने व्यक्तिगत दुःख-सुख की अभिव्यक्ति भी भक्तिमती मीराँ ने की है। उदाहरण के लिए जहर का प्याला पीने के पश्चात का मीराँबाई का यह सुप्रसिद्ध पद -

पग घुँघरु बाँध मीराँ नाची रे।
मैं तो अपने नारायण की
हो गयी आप ही दासी रे।
विष का प्याला राणा जी भेज्या
पीवत मीराँ हाँसी रे।

या फिर साँप पिटारा प्रसंग पर मीराँ का यह कहना -

मीराँ मगन भई हरि के गुण गाय।
साँप पिटारा राणा भेज्यो, मीराँ हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गयी पाय।

कृष्ण भक्ति में डूबी मीराँ को सिसोदिया कुल के राणा के रूठने से अधिक अपने इष्ट श्रीहरि के रूठने की चिंता रहा करती थी। तभी निडर मीराँ का कहना था कि –

सिसोद्यो रूठ्यो तो म्हाँरो काँई करलेसी।
म्हेन्तो गुण गोविन्द का गास्याँ हो माई।
राणो जी रूठ्याँ बारो देस रखासीं।
हरि रूठ्याँ कुम्हलास्याँ हो माई।

मीराँ के काव्य में गीति तत्व प्रधान हैं। उनके अधिकांश पद गेय हैं। लोक गायकों के वे सैकड़ों वर्षों से कंठहार बने ही, शास्त्रीय गायकों के लिए भी मीराँ के भक्तिपरक पद गायन में बहुत सुविधाजनक हैं। अनेक हिन्दी गायक-गायिकाओं ने मीराँ के सुमधुर पदों को गाकर अपार ख्याति अर्जित की है। मीराँ के भजन इतने सरल हैं कि गायक उन्हें मन मुताबिक संशोधन कर, शब्दों का यत्किंचित हेर फेर तक कर, गाया करते हैं।

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके शिर मोर मुकुट मेरे पति वोई।...

अथवा

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिखियो न जाय।
कलम धरत मेरो कर काँपत है, नयनन हैं झर लाय।

अथवा

हे री मैं तो दरद दीवानी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय।...

अथवा

पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो।...

अथवा

माई री मैं तो लीनो गोविन्दो मोल।
कोई कहे छाने कोई कहै छुपकै, लियो री बजन्ता ढोल।..

अथवा

सैयाँ मैं गिरधर के रंग राती।
पचरंग चोला पहर सखी री मैं,
झिरमिट रमवा जाती।

मीराँ के गीतों की रागात्मकता आत्मा-परमात्मा के गूढ़ और रहस्यमय सम्बन्धों के कारण जटिल हो सकती थी, किन्तु बोधगम्य इसलिए है कि उन्होंने ईश्वर की उपासना सगुण-साकार रूप में की है। कृष्ण जिसका प्रमुख आलम्ब है, कभी-कभी राम भी।

महीयसी महोदवी वर्मा मीराँबाई के काव्य से अभिभूत थीं। उनकी रागात्मकता को उन्होंने भी अपनाया। परन्तु महादेवी का आध्यात्म निर्गुणोपासना पर आधारित रहा। इसलिए उनका काव्य अत्यंत गूढ है। महादेवी वर्मा मीराँबाई की गेयता और उनके गीतों की प्रशंसा इन शब्दों में करती हैं- "गीत यदि दूसरे का इतिहास न कहकर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है। इसमें संदेह नहीं। मीराँ के हृदय में बैठी हुई नारी और विरहिणी के लिए भावातिरेक सहज प्राप्त था, उसके वाह्य राजरानी पन और आन्तरिक साधना में संयम के लिए पर्याप्त अवकाश था। इसके अतिरिक्त वेदना भी आत्मानुभूत थी, अतः उसका 'हेली मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय' सुनकर यदि हमारे हृदय का तार-तार उसी ध्वनि को दोहराने लगता है, रोम-रोम उसकी वेदना का स्पर्श कर लेता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।"

अब हम भाषा की दृष्टि से मीराँबाई के काव्य पर थोड़ा विचार कर लें। मीराँबाई अपने जीवनकाल में जहाँ-जहाँ रहीं और जिन पदों को मेड़ता- चित्तौड़-वृन्दावन-द्वारा आदि स्थानों पर रहकर उन्होंने गाया, कालान्तर में मीराँ के उस महागान की व्याप्ति विभिन्न साधु-संतों-लोक गायकों- ग्रामीण एवं आदिवासी स्त्रियों के माध्यम से भारत के कोने-कोने में हुई। मीराँ के कृष्ण भक्ति विषयक पद इतने सरल बोधगम्य और हृदय से निकले हुए थे कि उन्हें समझने और अपनाने में

साधारण जन को कोई कठिनाई नहीं होती थी। लोक में उनका प्रचार-प्रसार मौखिक परंपरा से लगभग 500 वर्षों से होता आया है। फलतः प्रान्त-प्रान्त में गाए जाने वाले मीराँबाई के पदों का पठभेद भी उतना ही वैविध्यपूर्ण है। लोक जब किसी काव्य को व्यवहार में लाता है तो उसके पाठ अथवा गायन में क्षेत्रीय भाषा का पुट भी स्वाभाविक रूप से समाविष्ट हो जाता है। यही कारण है कि डिंगल, पिंगल, ब्रज, गुजराती, पंजाबी आदि के रंगों में रँगे मीराँ के पद स्थान विशेष के अनुसार ही लिखे-पढ़े और गाये जाते रहे हैं।

मीराँ का प्रवास मुख्य रूप से राजस्थान के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के ब्रजक्षेत्र और गुजरात में ही रहा। उनके निधन के उपरान्त उनकी अनन्य सखी ललिता का भारत के अन्य भागों में देशाटन संभव रहा होगा। तब मीराँबाई के पदों का गायन द्वारा प्रचार-प्रसार और भी व्यापक रूप से हुआ होगा। मीराँबाई ने जिस समय अपने पदों की रचना की, उस समय अपभ्रंश में काव्य रचना करना समाप्त प्रायः हो चुका था। चारणों द्वारा अपनी मातृभाषा मारवाड़ी में जो शौर्य गान उन दिनों होता था उस काव्य शैली को 'डिंगल' कहा जाता था। इस लोकभाषा में 'न' की जगह 'ण' अक्षर के प्रयोग का प्रचलन है। मीराँ के मूल पदों में 'णकार' का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

मीराँ के शिक्षागुरू पंडित गजाधर थे। उनके इष्ट श्रीकृष्ण थे। गजाधर का सम्पर्क ब्रजक्षेत्र के अनेक कृष्णभक्त वैष्णव संतों एवं पुजारियों से था। अतः उन पर ब्रजभाषा का पर्याप्त प्रभाव था। परन्तु पंडित गजाधर का अधिकांश जीवन मारवाड़ और मेवाड़ में व्यतीत हुआ। उनकी बोलचाल की भाषा ब्रज मिश्रित मारवाड़ी थी। इसका प्रभाव उनकी कवयित्री शिष्या मीराँ पर भी अवश्य पड़ा होगा। अतः ब्रज मिश्रित मारवाड़ी की जो काव्य शैली विकसित हुई उसे 'पिंगल' कहा गया। मीराँ के काव्य में डिंगल, पिंगल, ब्रज, गुजराती इत्यादि सभी के न्यूनाधिक रूप दृष्टिगत होते हैं। क्योंकि व्यक्ति जहाँ-जहाँ रहता है उसकी भाषा में स्थानीय बोली-बानी के संस्कार भी आ ही जाते हैं। मीराँ भी अपने परिभ्रमण एवं प्रवास में भाषा के विविध रूपों से अप्रभावित नहीं रह सकी होंगी।

इसके अतिरिक्त जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भक्त मीराँ के पद जिस रूप में आज हमें उपलब्ध हैं, अपने समय में वे उसी रूप में रचे गए होंगे। समय के साथ-साथ मीराँ की लोकप्रियता

बढ़ती गई। कई दूसरे रचनाकारों ने मीराँ के भाव साम्य के आधार पर अनेक पद रच डाले। गायकों ने भी मीराँबाई के भक्तिपरक पदों में अपनी सुविधा के अनुसार भाषागत एवं और कहीं-कहीं तो शब्दगत हेर-फेर तक कर डाला। अतः अब मीराँ की काव्य भाषा की आधारभूत बोली का निर्णय कर पाना कोई सरल कार्य नहीं है।

मीराँबाई ने अपने काव्य में प्रायः सरल, सहज भाषा प्रयोग किया है। उनका बिम्बविधान अत्यंत स्वाभाविक है। मीराँ अधिकतर सूक्ष्म, लघु और अलंकृत बिम्बों का प्रयोग करती हैं। बिम्ब विधान करते समय मीराँ सूरदास और तुलसीदास की भाँति पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं करती हैं। उनके बिम्ब बहुत प्रत्यक्ष, जीवन से जुड़े एवं प्राकृतिक होते हैं। यथा –

बादल देख झरी स्याम मैं बादल देख झरी।
काली पीली घट्या उमड्या बरस्या चार घरी।

विरह व्यथा से संतप्त मीराँ अपनी मनोदशा का बिम्बात्मक चित्रण इस प्रकार करती हैं –

थारे कारण बन-बन डोलूँ, ले जोगण रो भेस।
अवधि बदीती अजहूँ न आये, पण्डर हो गया केस।

मीराँ की भाषा की सहजता का एक कारण उनके पदों में नित्य प्रयुक्त होने वाले प्रवाहमान मुहावरे भी हैं। अपनी काव्याभिव्यक्ति में वह मुहावरों का प्रयोग खूब करती हैं। जैसे-मग जोवाँ, पन्थ निहाराँ, बाट जोआँ, लाज राख्याँ, हाथ बिकाणी, बूझ्याँ बात, रंग राची आदि।

मैं तो साँवरे के रंग राची।
सजि सिंगार बाँध पग घुंघरू, लोक लाज तजि नाची।

अलंकारों के प्रयोग के पीछे मीराँबाई का कोई विशेष आग्रह नहीं रहा है। जो सहज भाव से आ गया सो आ गया। उसी प्रकार से छन्दों के प्रति भी मीराँ काफी-कुछ स्वच्छंद रही है। वह जिस प्रकार से सामाजिक मर्यादाओं के कड़े बन्धन को अस्वीकार करती थीं उसी प्रकार गेयता के आगे उन्होंने आवश्यकतानुसार छन्द के बन्ध को भी कहीं-कहीं ढीला किया है। मीराँ के पद गेयता के गुण से संयुक्त है। उनका छन्द विधान तदनुकूल अनायास और स्वाभाविक है। उन्होंने सार छन्द, सरसी छन्द, विष्णु छन्द, शोभन छन्द आदि का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए मीराँ के पदों में से

सरसी छन्द का एक उदाहरण दृष्टव्य है। इस छन्द में कुल 27 मात्राएं होती हैं और 16-11 पर यति होती है। -

छोड़ मत जाज्यो जी महराज।
म्हा अबला बल म्हारो गिरधर, थे म्हारो सरताज।

भक्त कवयित्री मीराँ का काव्य कभी-कभी हमें चकित भी कर देता है। जब भारतीय पौराणिक कथाओं से लेकर अनेक छवियाँ वह अपने किन्हीं-किन्हीं पदों में एक साथ परोस देती हैं -

हरि तुम हरो जन की पीर।
द्रोपदी की लाज राखी, तुम बढ़ायो चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि, धर्‍यो आप सरीर।
हिरन कश्यप मार लीनो, धार्‍यो नाहिन धीर।
बूड़ते गज ग्राह मार्‍यो, कियो बाहर नीर।
दासि मीराँ लाल गिरधर, दुख जहाँ तहाँ पीर।

वास्तव में मीराँ का काव्य जहाँ एक-ओर एक दुखियारी स्त्री के आर्त हृदय की पुकार है वहीं दूसरी ओर एक परम आस्थावान भक्त के आत्मबल से संयुक्त भावों की सार्थक अभिव्यक्ति भी। इस सम्बन्ध में नन्दकिशोर आचार्य ने भक्त कवयित्री मीराँ के काव्य पर विचार करते हुए उनकी आध्यात्मिकता पर बहुत सटीक बात कही है। उसे यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा -

'मीराँ की आध्यात्मिकता न तो किसी दमित वासना की अभिव्यक्ति है और न वह विद्रोह की स्वीकार्यता के लिए लगाया गया मुखौटा या कोई युक्ति। यह आध्यात्मिकता परम सत्ता के साथ अपने सम्बन्ध की अनुभूति है और इसी कारण सभी प्रकार की नैतिकता का स्रोत भी। नैतिकता के अन्य प्रकार उसके सन्मुख ओछे या झूठे हो जाते हैं, क्योंकि यह सम्बन्ध ही परम नैतिकता है और इसलिए मीराँ का विद्रोह इस परम नैतिकता की प्रतिष्ठा के लिए किया जाने वाला विद्रोह है जिसका उत्स उनकी आध्यात्मिक अनुभूति में है।"

मीराँ एक स्वतंत्रचेता स्त्री

एक स्त्री के रूप में मीराँबाई ने जीवन भर संघर्ष किया। उनका पूरा जीवन ही संघर्षों के पड़ाव पार करती हुई एक अनथक यात्रा था। वह एक अत्यंत दृढ़ निश्चयी एवं निर्भीक महिला थीं। सामंतों के एक राजकुल में जन्म लेकर दूसरे सामंती राजकुल में ब्याह कर जाने के दौरान तत्कालीन पुरूष सत्तात्मक परंपराओं और सामाजिक मान्यताओं ने पग-पग पर मीराँबाई की परीक्षा ली। उस परीक्षा को उन्होंने सदैव एक चुनौती के रूप में स्वीकारा और की गई गयी अपेक्षाओं को अपने स्वतंत्र-चिंतन की तर्कपूर्ण-कसौटी पर कस-परखकर यदि सही नहीं समझा तो उन्हें बेझिझक नकार दिया। स्त्री को परतंत्र बनाने की, उसे नैतिकता के नाम पर लोकलाज के आवरण में ढक-तोप कर रखने की, कभी अपने मन की न करने देने की दमनात्मक पुरूष-प्रवृत्ति का उन्होंने जैसे अपने कार्य एवं व्यवहार में निषेध ही कर रखा था।

मीराँबाई को बचपन में उनके पीहर मेड़ता में उनके दादा, ताऊ, माता-पिता सभी ने बड़े लाड़-प्यार से पाला था। उन्हें शिक्षा, गायन, नृत्य, धर्म, दर्शन पूजा-पाठ सभी क्षेत्रों में पूरी छूट थी। छूट ही नहीं परिवार का खुला प्रोत्साहन था। परन्तु जब विवाह का अवसर आया तब मीराँ की एक नहीं चलने पाई। मीराँ का विवाह तो उनके गिरधर गोपाल से उनकी माँ उनके बालपन में ही होना बता चुकी थीं। मीराँ किशोरी होते-होते स्वर्गीय माँ के द्वारा कहे गए उस विनोदपूर्ण अभिकथन की भी गांठ बाँध चुकी थीं। अब श्रीकृष्ण ही मीराँ के परम सखा एवं सच्चे जीवनसाथी थे। उन्होंने इस सम्बन्ध में अपनी धाय-माँ से एक बार कहा भी था-

माई म्हाँणे सुपणा माँ परण्याँ दीनानाथ।
छप्पण कोटाँ जणाँ पधार्‌याँ दूल्हा सिरी ब्रजनाथ।

जो मीराँ स्वप्न में दीनानाथ, ब्रजनाथ श्रीकृष्ण से अपना विवाह तक हो चुका देख चुकी थीं वे इस मिथ्या जगत में किसी और व्यक्ति से विवाह करना कैसे स्वीकार

कर सकती थीं? मीराँबाई ने लौकिक विवाह का भरसक विरोध अपने विधुर-पिता के सन्मुख भी किया था। अपने सभी पीहर के सम्बन्धियों और साथियों के सन्मुख वे काफी रोई-गाईं भी। परन्तु राजपूतों की उस युद्धप्रिय संस्कृति में मेड़ता के राठौड़ों को मेवाड़ के सिसोदियों की मैत्रीपूर्ण राजनीतिक-संधि की कड़ी और अधिक मजबूत करनी थी। मेवाड़ के महाराणा सांगा और मेड़ता में मीराँ के ताऊ सा राव बीरमदेव में पहले से ही साले-बहनोई का सम्बन्ध था। अब इस सामरिक-हितसाधक कार्य में महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र युवराज कुँवर भोजराज से मीराँ का विवाह एक और आवश्यक-सम्बन्ध था। मीराँबाई को मन मारकर अंततः उसे स्वीकार करना पड़ा। मीराँबाई का वह पहला विरोध था परन्तु वह सफल नहीं हो सका। धुन की पक्की मीराँ ने अपने अलौकिक-पति (गिरधर गोपाल) की प्रतिमा गोद में लेकर ही अपने लौकिक-वर (भोजराज) के संग विवाह के सात-फेरे लिए। उनके गिरधर गोपाल मीराँबाई के साथ ही मेड़ता से उनके ससुराल चित्तौड़ गए और वहाँ वे सबके कौतूहल का विषय बने।

मीराँबाई से जब चित्तौड़गढ़ में कुलदेवी की पूजा को कहा गया तो उन्होंने इनकार कर दिया। एक तो अपने इष्ट देवता श्रीकृष्ण के पूजन के अलावा किसी अन्य देवी-देवता की पूजा मीराँ को स्वीकार नहीं थी। ऊपर से जब उन्हें यह विदित हुआ कि ससुराल की कुलदेवी की पूजा में पशुबलि का भी विधान है तो सात्विक अभिरूचि की मीराँ को और भी अरुचि हुई और उन्होंने इसे नकार दिया। मीराँ ने ससुराल में सास-ननद व अन्य सम्बन्धियों के उलाहनों इत्यादि किसी बात की भी उन्होंने परवाह न की। सौभाग्य से उन्हें एक परम उदार पति के रूप में राजकुँवर भोजराज का सहयोग मिला, जो कभी भी मीराँबाई के रहन-सहन ओर उनके विचारों में बाधक नहीं बने। यह भोजराज की सज्जनता ही थी, जिसने मीराँ जैसी स्वतंत्रचेता स्त्री को भी उनकी कृष्णभक्ति की उत्कटता के साथ-साथ प्रारंभिक वर्षों में दाम्पत्य एवं गृहस्थी के बंधन में बाँधे रखा। क्योंकि मीराँ का आंतरिक प्रतिरोध इतना गंभीर था कि वह दमन के समक्ष आवश्यकता पड़ने पर सांसारिक दाम्पत्य-बंधनों को छिन्न-भिन्न भी कर सकता था।

भोजराज की असामायिक मृत्यु के उपरान्त ससुराल की स्त्रियों ने युवा मीराँबाई को सती हो जाने का सुझाव दिया। मीराँ ने इसे सिरे से निरस्त कर दिया। मीराँ सती-प्रथा को एक गर्हित सामाजिक कुपरंपरा मानती थीं। वह इसे आत्महत्या का ही

दूसरा रूप और स्त्री के साथ आपराधिक छल करने का एक महिमामय आडंबर मानती थीं। मीराँ पहली स्त्री थीं जिसने उस सामंती युग में सती-प्रथा का मुखर विरोध किया। उनके श्वसुर महाराणा सांगा भी मीराँ के उस अहिंसक, करूण किन्तु दृढ़ प्रतिरोध के सन्मुख काँप गए-

गिरधर गास्यां सती न होस्यां, मन मोह्यो घननामी।
जेठ बहु नातो नहीं राणा जी, म्हैं सेवग थे स्वामी।
चोरी करां न जीव सतावां, काईं करसी म्हारो कोई।
हस्ती चढ़ि गधै नहिं चढ़स्यां, या तो बात न होई।

देखा जाए तो मीराँ का वास्तविक सत्याग्रह उनके सती-प्रथा के विरोध से, उस निषेध से, यहीं से शुरू हुआ, जिसने आगे चलकर मीराँ को भारत की प्रथम सत्याग्रही स्त्री के रूप में बदलकर रख दिया, जिसने स्त्री-स्वातंत्र्य की दिशा में उनके एकाकी-आंदोलन की भूमिका तय कर दी।

भक्तिमती मीराँ ने अपना सारा जीवन बतौर एक स्त्री अपनी शर्तों पर ही जिया। महाराणा सांगा ने मीराँ को पुर और मांडल की जागीरें देकर उन्हें पर्याप्त आर्थिक स्वतंत्रता प्रदान की। मीराँ ने उस आमदनी का उपयोग वैभव-विलास की जगह अपनी दैनिक साधना और साधु-संतों की सेवा एवं आवभगत में ही अधिक किया। उनकी दासियों और सेवकों के वेतनादि का प्रबन्ध भी उसी धनराशि से हो जाया करता था। कालान्तर में उनके दुष्ट देवर राणा विक्रमादित्य के सिंहासनारूढ़ होने पर साधु-संगत का जब राणा ने विरोध किया तो मीराँ उस दुराग्रह के आगे नहीं झुकी। इतना ही नहीं, लोक-लाज और कुल की मर्यादा के नाम पर जब-जब राजसत्ता ने अथवा परिवारीजन ने मीराँबाई पर प्रतिबन्ध लगाना चाहा, मीराँ ने उसका सात्विक विरोध किया। राणाशाही ने मीराँ को मारने के लिए अनेक षड़यंत्र रचे। उनके लिए धोखे से शूल सेज बिछाई गई। विषपान हेतु चरणामृत के बहाने हलाहल विष का पात्र भेजा गया। सर्पदंश इत्यादि द्वारा मृत्यु कारक अनेक उपाय मीराँ के विरूद्ध किए गए परन्तु मीराँ की कृष्णभक्ति और उनके अपराजेय आत्मबल के सामने सभी षड़यंत्र व्यर्थ एवं विफल सिद्ध हुए।

उसी दुष्ट राणा ने मीराँबाई के चरित्र-हनन के भी कतिपय कुत्सित उपाय किए। उस माँ समान भाभी मीराँ के अप्रतिम सौंदर्य से प्रभावित हो और

दुश्चरित्र मदांध राणा ने पहले तो स्वयं ही उन्हें पटरानी बनाने के प्रलोभन के साथ अपना नीचतापूर्ण विवाह प्रस्ताव भेजा। मीराँ इस नीच प्रस्ताव का भी पर्दाफाश करती कहती हैं -

राणो बचन उचारिया जी, सुणजो म्हारी बाँणी।
साधाँ रो संग परो निवारो, थाँने कराँ पटराँणी।
कोट भूप वारो साधाँ पर, सन्ता हाथ बिकाँणी।
हथलेवा म्हे थाँसू जोड़यो, गिरधर री पटराँणी।

फिर राणा विक्रमादित्य ने एक छद्म संन्यासी को भेजकर उनके शील की परीक्षा लेनी चाही। उस संन्यासी ने मीराँबाई से अंग-संग करने का जब अपना गोपनीय-प्रस्ताव रखा तो कृष्ण मंदिर में सेज बिछाकर मीराँ ने सार्वजनिक रूप से उस नीच-व्यक्ति को लज्जित कर दिया। मीराँबाई इस प्रकार अपनी सोच में निरंतर दृढ़ रहकर अपनी दैनिक पूजा एवं सेवावृत्ति में लगी रहीं। राणा विक्रमादित्य ने नशे में धुत होकर मीराँबाई पर अंततः एक दिन तलवार से प्रहार करके उनके प्राण लेने चाहे। हरिकृपा से मीराँबाई का तब भी बाल बाँका नहीं होने पाया।

अंततोगत्वा मीराँ के धैर्य की सीमा भी चित्तौड़गढ़ में उन पर आए दिन होने वाले अन्यायों-अत्याचारों के पश्चात् जब समाप्त हो गई तो उन्होंने अपने ससुराल मेवाड़ का सदा के लिए परित्याग करने का निर्णायक आत्मनिर्णय लिया। इस कार्य में उनके पीहर पक्ष ने उनका पूरा साथ दिया। एक विवाहिता स्त्री भारतीय समाज में ससुराल पक्ष की उपेक्षाओं का सामना आर्थिक स्वावलम्बन और अपने दृढ़ निश्चय के बल पर ही कर सकती है। यदि इसमें उसे उसके माता-पिता-भाई के परिवारी जन का भी साथ मिले तो उसके आत्मबल को और अधिक सम्बल मिलता है। अन्यथा किसी भी स्वाभिमानी स्त्री को अबला के आक्षेप से बचने के लिए हमारे पुरुष प्रधान समाज में अपनी दुस्साहसिक लड़ाई स्वयं ही लड़नी पड़ती है।

विपरीत परिस्थितियों में मेड़तणीं मीराँबाई ने चित्तौड़ त्याग कर संसार को अपने स्वतंत्र-रूप का स्पष्ट परिचय कराया। वह मेड़ता राज्य से भी अपने ताऊ सा राव बीरमदेव और भाई जयमल पुत्र बीरमदेव की विषम राजनीतिक परिस्थितियों में उनके पलायन की अवस्था में उनके साथ विभिन्न स्थानों में भटककर, अंततः वृन्दावन की तीर्थ यात्रा पर चली गईं।

मीराँबाई का स्वाधीन-स्वभाव हर जगह उनके साथ रहा। वृन्दावन के प्रवास के दौरान पुरुष-सत्तात्मक समाज वहाँ भी भक्तिमती मीराँ के मार्ग में बाधक बना। मीराँ अपने भजनों के माध्यम से तब तक काफी लोकप्रिय हो चुकी थीं। राणा जी के अन्यायों का विरोध मीराँ ने अपनी पदावली में जगह-जगह मुखर रूप से किया था। उसके कारण भी मीराँ लोक चर्चा में थीं और साँप पिटारा, विषपान आदि प्राणलेवा घटनाओं के बावजूद उनके जीवित बच निकलने के चमत्कारिक प्रसंग किंवदन्तियाँ बनकर मीराँ को भक्तिमार्ग में और भी विख्यात कर रहे थे। अतः वैष्णव भक्ति प्रचारक अनेक सम्प्रदायों उनके धर्म गुरूओं, मठाधीशों, पंडों इत्यादि ने मीराँबाई को अपने-अपने सम्प्रदायों में दीक्षित हो जाने के प्रस्ताव भेजे। मीराँबाई ने सभी प्रस्ताव विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिए। क्योंकि प्रभु श्रीकृष्ण ही मीराँबाई के एकमात्र गुरू, सखा एवं जीवनाधार थे। मीराँबाई ने किसी भी धर्म धुरंधर की चेलाही स्वीकार नहीं की। यही नहीं, मीराँ ने कृष्ण भक्ति का मार्ग तो अपने सभी संगी-साथियों और सम्पर्क में आने वालों को दिखाया, किन्तु किसी स्त्री अथवा पुरूष को अपना शिष्य नहीं बनाया। सबसे उन्होंने एकमेव जगतगुरू परमब्रह्म श्रीकृष्ण को ही भजने और श्रीकृष्ण को ही अपना गुरू मानने का निवेदन किया। इस प्रकार किसी भी प्रकार की सम्प्रदायिक संकीर्णता को मीराँ ने न तो स्वीकारा, न ही अपने यहाँ कोई प्रश्रय दिया। संत मीराँबाई ने स्वयं का भी कोई धार्मिक पंथ नहीं चलाया। यह स्थिति विक्षुब्ध और व्यर्थ में स्वयं को अपमानित महसूस करने वाले धर्म धुरंधरों को भला कहाँ रास आ सकती थी? फलतः अनेक पंडे-पुजारियों मठाधीशों ने कुछ समय बाद ब्रजमण्डल में मीराँबाई के विरूद्ध निंदा अभियान छेड़ दिया। उन्हें अपशब्दों, गालियों इत्यादि से भी ये लोग अपमानित करने लगे।

मीराँ को आध्यात्म जगत में भी पुरुष वर्चस्व के चलते एक स्त्री होने के नाते कई बार अपमान सहने पड़े थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में आए कतिपय प्रसंग इसके प्रमाण है। वल्लभ सम्प्रदाय के संस्थापक महाप्रभु वल्लभाचार्य को उनके शिष्य 'कृष्ण का अवतार' कहकर प्रचारित करते थे। जो महाप्रभु के समक्ष नतमस्तक हो उनका शिष्यत्व स्वीकार न करे, उनके अनुयायी की दृष्टि में वह तुच्छ एवं त्याज्य था। मीराँ ने भी महाप्रभु वल्लाभाचार्य को अपना गुरू नहीं माना। इसलिए उक्त ग्रंथ में "अथ मीराँबाई के पुरोहित रामदास तिनकी वार्ता" शीर्षक से एक उल्लेख आता है कि मीराँबाई के पुरोहित रामदास ने एक बार मीराँ के आराध्य ठाकुर जी के आगे

(अपने गुरू) महाप्रभु जी का एक पद गया। मीराँ जी ने उनसे उसके बाद कोई दूसरा पद गाने को कहा। इस पर रामदास भड़क गए। मीराँबाई से बोले - "अरे दारी रांड। यह कोन को पद है। जा आज ते तेरा मुहुंहौ कबहूं न देखूंगा।" ऐसा कहकर रामदास अपने सारे कुटुम्ब को लेकर उठ चले। मीराँ जी के बहुत कहने पर भी फिर उनसे कभी नहीं मिले। ब्रजभाषा में उल्लिखित ऐसे ही कुछ अप्रिय प्रसंग और हैं जो स्त्री की उपेक्षा, अवहेलना और उसके अपमान के द्योतक हैं। इसके बावजूद मीराँबाई यद्यपि किसी दबाव के सन्मुख नहीं झुकी, तथापि एक स्वाभिमानी स्त्री ऐसे विषाक्त वातावरण का आखिर कितने समय तक सामना करती? फलतः मीराँबाई को वृन्दावन छोड़कर द्वारका जाने का संतप्त हृदय से फैसला लेना पड़ा।

मीराँबाई द्वारका चली गईं। वही द्वारकापुरी जो उनके आराध्य श्रीकृष्ण भगवान की अंतिम लीला-स्थली थी, जो कभी उनकी राजधानी भी रही थी, जो अब हिन्दू जनमानस के अनेक पवित्र महातीर्थों में से एक थी। संत मीराँ वृन्दावन से द्वारका चली गईं अपने प्रियतम श्रीकृष्ण रणछोड़ जी का दर्शन करने। अब वह अपनी नित्य की पूजा-आराधना में द्वारकापुरी में परम स्वतंत्र थीं। गुजरात का भक्तिमय सरल-सहज वातावरण भी भक्तिमती मीराँ जी के अनुकूल था। परन्तु मीराँबाई के पुराने राजकीय एवं पारिवारिक सम्बन्धों और उनकी जड़ों ने उनके द्वारका प्रवास के समय में भी उनका पीछा नहीं छोड़ा।

मीराँबाई को उनके देवर और मेवाड़ के तत्कालीन राणा उदय सिंह द्वारा चित्तौड़ से भेजे गए ब्राह्मण दल के साथ चित्तौड़ वापस जाना मंजूर नहीं था। ब्राह्मणों के हठ और आमरण अनशन करने पर महा हठी मीराँ जी ने भी अन्न-जल का परित्याग कर दिया, परन्तु द्वारकाधीश के चरणों को छोड़कर कहीं अन्यत्र जाना स्वीकार नहीं किया। संत मीराँबाई का यह अंतिम निर्णायक सत्याग्रह था। अपने सिद्धांतों पर सदैव अडिग रहने वाली स्वतंत्रचेता स्त्री थीं मीराँबाई। जीवनपर्यन्त स्त्री को दबाने, उसे परवश करने, उसे रूढ़िगत परंपराओं का पालन करने के लिए उकसाने, चेताने और झुकाने की हर चेष्टा कर सात्विक एवं अहिंसक विरोध करने वाली स्त्री थीं मीराँ। अपने काव्य में कृष्ण भक्ति के साथ सभी अन्यायों को भी मुखर अभिव्यक्ति देने वाली विलक्षण कवयित्री थीं मीराँ। यह स्त्री यहीं आकर अपनी निजता और अलग व्यक्तित्व के कारण अन्य भक्त कवियों कबीर, सूर, तुलसी इत्यादि से विलग हो जाती है। रैदास से इन अर्थों में थोड़ा बहुत मीराँबाई की संगति बैठती है

कि रैदास के काव्य में भी जातिगत विभेदों के कारण समाज में दलितों के साथ होने वाले भेदभावों की अभिव्यक्ति हमें पढ़ने को मिल जाती है। परन्तु मीराँ तो उनकी भी शिष्या नहीं थीं न ही रैदासी सम्प्रदाय में दीक्षित थी। मीराँ तो मीराँ ही थी। स्वयं में सम्पूर्ण और विरल। प्रेमदीवानी मीराँ की अनन्य-अनुपमेय-अपार भगवत् भक्ति ने उन्हें वह आत्मशक्ति प्रदान की थी जिसके बल पर यह सामन्ती व्यवस्था से भिड़ीं और जिसके कारण ही वह हिन्दू धर्म के विभिन्न मत-मतान्तरों के सन्मुख भी अपना अलग अस्तित्व कायम रख सकीं। मीराँ ने अंततः द्वारका में ही प्राणोत्सर्ग किया और श्रीकृष्ण के चरणों में नतमस्तक होकर अपने जीवन की अंतिम श्वांस ली। यह मीराँ ही थीं जिन्होंने अपने अवसान के अंतिम पलों में कहा होगा –

जाऊँ ना पीहरिये जाऊँ ना ससरिये,
हरि सूँ सैन लगाती।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर,
हरि चरण्याँ चित लाती।

मीराँ का अपने अस्तित्व और स्त्री-अस्मिता के प्रति किया गया उनका एकाकी आन्दोलन आज के स्त्री-मुक्ति आन्दोलन से इन अर्थों में भिन्न था कि इसमें परिवार संस्था पर भी कुठाराघात करने का उत्तर-आधुनिक आग्रह विद्यमान नहीं था। भक्तिभाव विह्वल अवस्था में हरिगुण गाने और भावनृत्य करने के पीछे मीराँ का सामाजिक मर्यादाओं को पूर्ण तिलांजलि देने का विचार भी नहीं था। वह झूठी लोकलाज और पुरूष सत्ता की अंध-अनुगामिनी होने का निषेध अवश्य था।

जब मीराँ अपना इकतारा और खण्डताल हाथों में लेकर गाते-गाते कहतीं कि – सिसोदिया वंश के राणा रूठकर मेरा क्या कर लेगें? मुझे तो हरि का गुण गाना है... तो वह साथ में यह स्पष्ट उद्घोष भी करती हैं कि मैं झूठी लोकलाज को नहीं मानती और मैं निर्भय होकर अपनी समझ का नगाड़ा बजाऊँगी और श्याम नाम रूपी जहाज चलाकर इस भव-सागर को पार कर जाऊँगी। दूसरे शब्दों में मीराँ का प्रतिरोध दकियानूसी सामाजिक परंपराओं के प्रति है। परन्तु वह मुक्ति का मार्ग भक्ति में खोजती हैं, भोग में नहीं। कृष्ण-भक्ति और साधु-संगत को मीराँ ने अपने संघर्षपूर्ण जीवन में ढाल और तलवार बनाया था। इस प्रकार मीराँबाई का सत्याग्रह अपने युग का अनूठा एकाकी आन्दोलन था, जिसकी वहीं प्रणेता थीं और वहीं संचालक। मीराँबाई ने स्त्री की मुक्ति के लिए जो सिद्धांत निर्मित किए उन पर सबसे पहले वे ही चलीं।

मीराँबाई की निर्भीकता और स्पष्टवादिता उनके अनेक पदों में व्यक्त हुई है। उन्होंने राणा विक्रम को उनके अन्यायों के लिए दोषी ठहराने में तनिक भी संकोच नहीं किया है। वह उन्हें कृष्ण भक्ति की शक्ति का भय दिखाने से भी नहीं चूकतीं। लोकलाज और कुलीनता को धता बताती हुई उसे पानी की तरह बहा देने तक की बात कहती हैं। स्वयं को वे अबला भी कहती हैं और बौराई हुई स्त्री भी कहती हैं तथा अनेक प्रकार से राजसत्ता को चेतावनी देती हैं –

राणों जी थे जहर दियो म्हें जाणी।
जैसे कंचन दहत अगिन में, निकसत बाराँवाणी।

परम्परा और रूढ़ियों का बंधन नारी समाज पर पुरुषों ने ही आरोपित किया हुआ है। विडम्बना यह है कि पारिवारिक स्त्रियाँ इस कदर उन बेड़ियों की दास हैं कि यदि कोई नारी इसके विरोध में खड़ी होती है तो घर की स्त्रियाँ ही सर्वप्रथम उसके विरोध में जुट जाती हैं। मीराँबाई को भी ससुराल में उसकी सास-ननद व अन्य स्त्रियों के हँसने-कोसने का लक्ष्य बनना पड़ता था –

सखी साइनी म्हारी हँसत हैं, हँसि-हँसि दे मोहि गारी हे माय।
सास बुरी अर नणद हठीली, लरि लरि दे मोहिं तारी, हे माय।

मीराँबाई ने चित्तौड़गढ़ में एक काल-विशेष में नाना प्रकार के संत्रास सहे किन्तु हार नहीं मानी। अपूर्व धैर्य का परिचय दिया। अंततः शिकायती लहजे में उन्हें कहना पड़ा कि राणा तेरे देश में साधुओं का गुजारा नहीं है, यहाँ अधिकतर कूड़ा लोग बसते हैं –

नहीं सुख भावै थारो देसलड़ो रँगरूड़ो।
थाँरे देसाँ में राणा साध नहीं छै, लोग बसे सब कूड़ो।

इसी तरह मीराँ का यह कहना– "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" इसमें उस एकमात्र परम पुरूष का स्वीकार तो है ही, साथ में सारी दुनिया के दबाव का उसमें अस्वीकार भी सन्निहित है। चाहे पितृसत्ता हो, चाहे राजसत्ता। चाहे उसके द्वारा पालित-पोषित स्त्री के लिए दमनकारी व्यवस्थाएं। चित्तौड़ में रहते हुए मीराँ अविनाशी पुरुष की परमसत्ता के सामने सबको तुच्छ समझती हैं। जब वे वृन्दावन में जीव गोस्वामी से मिलने का प्रयास करती हैं तो उन महात्मा के द्वारा स्त्रियों से न

मिलने का संकल्प जानकर वहाँ भी चुप नहीं रहतीं। जाते-जाते, श्रीकृष्ण को सृष्टि में एकमेव पुरूष मानने के कारण, मीराँ जीव गोस्वामी पर भी व्यंग्योक्ति कसकर जाती हैं कि वृन्दावन में कोई दूसरा पुरुष भी रहता है, उन्हें आज पता चला। यह मीराँ की दृढ़ मान्यताओं और नश्वर संसार के प्रति उनका मोह रहित होने का एक बड़ा सीधा-सा उदाहरण था। सबसे बड़ी बात यह कि स्त्री को मात्र एक 'देह' के रूप में देखने वाली पुरुष-प्रवृत्ति को भी स्वतंत्र चेतना सम्पन्न मीराँबाई की यह एक स्पष्ट चेतावनी थी। यह उनका एक संन्यासी पुरुष द्वारा एक 'संत स्त्री' को भी 'विश्वामित्र का आसन डोलाने वाली मेनका' की तरह देखने और उससे दूर रहने की कमजोर मनोवृत्ति का निर्दय उपहास था। वस्तुतः मीराँ ने अपने युग में अपनी अलग पहचान बनाई। यह उनके जीवन संघर्ष से भी विदित होता है और उनके काव्य से भी ध्वनित होता है। यदि मीराँ को स्त्री-अस्मिता का प्रथम स्वर कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वस्तुतः मीराँ से ही भारतीय स्त्री के स्वतंत्र-चिंतन की आज से 500 वर्ष पूर्व जो शुरूआत हुई, वह आज के उत्तर-आधुनिक युग में नित नये आयाम ग्रहण कर रही है।

मीराँ के सामाजिक सरोकार

सोलहवीं शताब्दी ईसवी की महान विभूति थीं मीराँबाई। उन्होंने उस युग में वीरता की प्रतिमूर्ति, अपनी आन-बान-शान के लिए रणक्षेत्र में मर मिटने वाले राजपूतों की धरती राजस्थान में जन्म लिया था। मीराँ कोई साधारण स्त्री नहीं थीं। सामन्तों के कुल में जन्मी थीं। वह भी एक राजकुल में। उनका विवाह भी एक और बड़े राजकुल में हुआ था। ऐसा राजकुल जिससे भारतीय इतिहास का गौरव जुड़ा हुआ है। वीरों के कुल में जन्म लेने के कारण स्वाभिमान मीराँ के रक्त में था और एक वैष्णव भक्ति सम्पन्न परिवार से सम्बन्धित होने के नाते भक्ति-रस मीराँ को घुट्टी में मिला था। उनके व्यक्तित्व के विकास में उनके पीहर में उनके पितामह से लेकर माता-पिता सभी ने उनका पूरा साथ दिया। विवाहोपरान्त मीराँबाई को उनके ससुराल में मिश्रित अनुभव हुए, जो कि कालक्रम में तीखे होते चले गए। जीवन के मीठे ओर कड़ुवे अनुभवों के संयोंग ने आदर्श और यथार्थ के सम-विषम धरातलों से उन्हें परिचित कराया।

मीराँ को जब महलों की घुटन भरी दुनिया ने आक्रांत किया तो उन्होंने उसके बाहर के संसार पर दृष्टिपात किया। एक राजरानी ने ऊँचाई से नीचे झाँका तो उसे कोटि-कोटि जन का, वे जिस हाल में भी थे, अपने में मगर एक अनोखा संसार नज़र आया। खेती करते किसान, घास का बोझा ढोती औरतें, बैल गाड़ियों और ऊँट गाड़ियों पर यात्रियों और माल-असबाब ले जाने वाले उनके गाड़ीवान, छोटे बड़े व्यापारी, साधु-संत-फ़कीर, सैनिक और भिखारी। क्या नहीं था इस संसार में? मीराँ ने देखा कि लोक के सीने पर बैठा राजतंत्र राज कर रहा है। सर्वप्रथम मीराँ ने अपने आसपास के परिवेश का लोकतांत्रीकरण किया। अपनी दासियों को अपनी सखियों का दर्जा दिया। उन्हें कोई भी प्रश्न पूछने की छूट दी। अपने सेवकों और सुरक्षा-सैनिकों से सद्व्यवहार किया। हर प्रकार के भेदभाव को समाप्त किया। मीराँ अपने

अंगरक्षकों, सेवकों, दासियों को पुत्रवत् एवं सखी-सम स्नेह देतीं तथा उन्हें अपने परिवार का सदस्य मानती थीं। उदारहृदया मीराँबाई अपने मीराँ महल के सभी सदस्यों के मध्य इसीलिए परम आदरणीया थीं। अपने से जुड़े हर व्यक्ति का वह बहुत ध्यान रखतीं। अपनी जागीरों की आमदनी को वह अपने अधीनस्थों के वेतनादि के अतिरिक्त उनके कल्याण के कार्यों यथा- प्रसूति, चिकित्सा, विवाह इत्यादि आवश्यकताओं की पूर्ति में भी व्यय करतीं। धार्मिक कर्त्तव्यों के निर्वहन और दैनिक हाथखर्च में तो ख़ैर मीराँबाई आवश्यक व्यय करती ही थीं।

मीराँ पुत्री रतन सिंह राठौर का विवाह एक कूटनीतिक संधि के अंतर्गत, मेड़ता और मेवाड़ राज्यों में मैत्री-सम्बन्ध और प्रगाढ़ करने हेतु, भोजराज पुत्र सांगावत से हुआ था। मीराँ मानसिक रूप से इस लौकिक विवाह बंधन में बँधने को तैयार नहीं थीं। पर पीहर वालों की प्रबल इच्छा के आगे मीराँ को समझौता करना पड़ा। समाज में वैवाहिक संस्कार किसी भी पारिवारिक कन्या को सामाजिक अनुशासन में आबद्ध करने का सबसे महत्वपूर्ण चरण है। मीराँ के सामाजिक सरोकार यहीं से नित नवीन रूप धारण करने लगे। मेड़ता से उसकी कुछ सखी सम दासियाँ, थोड़े से सैनिक और सेवक भी राजसी परंपरानुसार उनकी सेवा में चित्तौड़गढ़ साथ में भेजे गए। इन सबका ध्यान रखना मीराँ अपना कर्त्तव्य समझती थीं। साथ आए गुरूवर गजाधर पंडित के भी रहन-सहन की व्यवस्था मीराँ जी ने सुनिश्चित की थी। पति भोजराज के साथ दाम्पत्य जीवन का निर्वाह और अपने गिरधर नागर के विग्रह के नित्य-पूजन-अर्चन के मध्य संतुलन बैठाने का कार्य रूपमती और गुणवती मीराँबाई सम्यक रूप से करती रहीं। इसमें सौभाग्य से राजकुँवर भोजराज का भी पत्नी मीराँ को पर्याप्त सहयोग मिला।

भोजराज की असामयिक मृत्यु के बाद मीराँबाई के सामने सती-प्रथा को अपनाने का प्रश्न आया, जिसे मीराँ ने दृढ़ता से अस्वीकार दिया। उन्होंने अपने लिए सात्विक-जीवन युक्त वैधव्य को चुना। उसके बाद देवर विक्रमादित्य के राज्यकाल में मीराँबाई पर जो भी दुख-कष्ट आए, सब बहुत धैर्य एवं साहस के साथ उन्होंने सहे। श्रीकृष्ण की कृपा और उनकी परमसत्ता में मीराँ को अटूट विश्वास था। उसी आस्था के फलस्वरूप उन्होंने हँसते-हँसते हर बड़े से बड़े संकट को पार किया।

मीराँ चाहे चित्तौड़ में रहीं चाहे मेड़ता में, चाहे वृन्दावन और द्वारका में, जो भी स्त्री-पुरुष उनके सम्पर्क में आए मीराँ ने उन्हें ईश्वर भक्ति, स्वयं पर विश्वास

रखने, सन्तोष और धैर्य के साथ जीवन जीने, आडम्बरों और पाखंड से दूर रहने, संसार की नश्वरता, काम-क्रोध-लोभ-मोह से बचने, अभिमान न करने, अपने हृदय को निर्मल करने जैसे उपदेश अपने संत स्वभाव के अनुकूल दिए। जैसा आचरण संत मीराँ का स्वयं का था वैसी ही शिक्षा वह अपने भजनों के माध्यम से समाज और संसार को देती थीं। ऊँच-नीच-भेदभाव से कोसों दूर इस सामंती महिला ने साधन सम्पन्न होते हुए भी पहनने-ओढ़ने और खान-पान विषयक सभी निजी स्तरों पर एक अत्यंत सादा और साधारण जीवन व्यतीत किया। मीराँ स्वयं को श्रीकृष्ण की ब्याहता मानती थीं। अतः कुसुम्बी साड़ी अथवा लहँगा-चोली जैसे फूलदार वस्त्र और दो-एक आभूषणों सहित एक विवाहिता-सा शृंगार प्रायः कर लेती थीं। विरह की अनुभूति जब ज़ोर मारती तो भले ही जोगिया-परिधान कुछ समय को धारण कर लेती हों। ऐसा अनुमान है। परन्तु मीराँबाई दीन-दुखी-दलितों और विशेषकर स्त्रियों के लिए सदैव सहज सुलभ थीं। यदि कोई अपनी पारिवारिक या सामाजिक समस्या को लिए मीराँ जी के सम्पर्क करता तो उसे यथोचित सलाह वे अवश्य देतीं।

मीराँबाई का सम्पूर्ण काव्य उनके सामाजिक सरोकारों का स्पष्ट प्रमाण है। अपने लिए जिन व्यवहारों और निर्देशों को उन्होंने अनुचित माना उनका उन्होंने विरोध ही नहीं किया, अपने अनेक पदों में खुलकर उल्लेख भी किया। इसी तरह मानव समाज को भी मीराँ ने अनेक स्थलों पर अपनी कविता के माध्यम से सीख दी है। मीराँ की विनम्रता उनकी कविता में प्रबल है। यदि वह लोगों को उपदेश भी देती थीं तो बात को प्रायः स्वयं पर ढाल कर ही कहती थीं :-

भज मन चरण कँवल अविनासी।
जेताई दीसे धरनि गगन बिच, तेताई सब उठि जासी।

मीराँ कहती हैं - हे मन! अविनाशी श्रीकृष्ण के चरण कमलों का भजन करो। धरती और आकाश के बीच जो कुछ भी दिख रहा है, सब नष्ट हो जाएगा। मीराँ यहाँ संसार की नश्वरता का उल्लेख कर भक्ति-भाव की श्रेष्ठता की ओर लोक का ध्यान आकर्षित करती हैं।

एक कुलीन स्त्री का लोकाचार दुर्लभ अवसरों पर ही संभव होता है। परन्तु मंदिरों में भजन-कीर्तन और साधु-संगत का जो मार्ग मीराँबाई ने खोजा, उसके कारण ही वे आमजन के नैकट्य को भी प्राप्त कर सकीं। रही-सही कसर मीराँ के हृदय

की अतल गहराई से निकले पदों ने, उनकी गेयता ने, उनकी सीधी-सरल भाषा ने पूर्ण कर दी। मीराँ की भावाभिव्यक्ति को लोक ने हाथों हाथ, बिना किसी कठिनाई के, अपनाया। इसीलिए एक मुख से दूसरे मुख तक मीराँ के भजनों का गायन और प्रचार-प्रसार स्वयमेव होता गया। मीराँ अपने भक्तिपरक भजनों से जितनी लोकप्रिय हुईं, उन पर हो रहे अन्यायों के प्रतिरोध को व्यक्त करने वाले उनके पदों और उनसे जुड़े चमत्कारों की किंवदन्तियों इत्यादि के कारण भी वे कोई कम चर्चित नहीं हुईं -

राणा जी थें जहर दियो म्हें जाणी।
जैसे कंचन दहत अगिन में, निकसत बाराँवाणी।

राणा जी! तुमने मुझे जहर दिया, यह मैं जान गई हूँ। विषपान फिर भी किया मीराँ ने। वे आगे कहती हैं कि मैं सतायी जाने से वैसे ही खरी हो गई हूँ जिस प्रकार सोना आग में दहकाए जाने के बाद बारह वाणी का अर्थात् खरा सोना बन जाता है।

निश्चय ही अहिंसक-प्रतिरोध में बड़ी शक्ति है। कदाचित् मीराँबाई की इसी आंतरिक शक्ति को पहचानकर उनकी जीवनलीला के 400 वर्षों बाद महात्मा गांधी ने उनके व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण की और भारत के स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान सत्य और अहिंसा के मन्त्र भारतवासियों को देते हुए मीराँबाई को गांधी जी ने 'प्रथम सत्याग्रही' कहा था। छायावादी कवयित्री महादेवी वर्मा, जो आधुनिक-मीराँ कहलाती हैं, ने मीराँबाई को 'मध्ययुगीन नारी के विद्रोह का प्रतीक' और 'कृष्णभक्ति आंदोलन की समर्थ नायिका' बतलाया था। अतः कल्पना की जा सकती है कि अपने युग की जिस असाधारण स्त्री ने अपने जीवनकाल के सैकड़ों साल बाद अपने विचारों से जनमानस को इतना उद्वेलित किया और सत्याग्रह का मार्ग दिखाया, उसने अपने समय में अपने आसपास के व्यक्तियों एवं समाज को कितना प्रभावित किया होगा।

सामाजिक रूढ़ियाँ किसी साहसी व्यक्ति के द्वारा अनवरत झकझोरे जाने पर भले ही तत्कालीन प्रतिक्रियाओं और आलोचनाओं को जन्म दें, परन्तु कालक्रम में वे परिवर्तन का मार्ग अवश्य पकड़ती है। मीराँ का सती-प्रथा के मुखर विरोध का स्वर राणा कुल के अनेक सदस्यों को भले ही रास न आया हो, परन्तु उसकी गूँज ने चित्तौड़गढ़ की पत्थर की दीवारों को लांघ कर समस्त वातावरण में एक कालभेदी प्रतिध्वनि अवश्य की। भारत में राजस्थान और बंगाल में ही सती-प्रथा का अमानवीय स्वरूप विशेष प्रचलित था। 16वीं शताब्दी ई. की विभूति मीराँबाई की भांति बंगाल में

वहाँ के 19वीं शताब्दी ई. के समाज सुधारक राजा राममोहन राय आगे आए और उन्होंने सती-प्रथा के विरूद्ध एक जोरदार आन्दोलन चलाया। उसको कानूनी तौर पर बंद कराया।

मीराँबाई जैसे दुर्दम्य व्यक्तित्व श्रीराम और श्रीकृष्ण की भाँति सुख-दुख में समान रूप से स्थिर एवं अविचल रहते हैं। महल और वनवास दोनों ही उनके लिए एक समान हैं। धैर्य एवं आत्मसन्तोष ऐसे महान चरित्रों का सच्चा आभूषण होता है। ऐसी ही थीं मीराँबाई और जनसाधारण के लिए ऐसा ही था उनका संदेश भी-

करना फकीरी क्या दिल गीरी,
सदा मगन मन रहना जी।
कोई दिन बाड़ी तो कोई दिन बंगला,
कोई दिन जंगल रहना जी।

मीराँबाई लोगों को चेताती हैं कि मनुष्य योनि में जन्म पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रकट होने पर ही प्राप्त होता है। ऐसा जन्म बार-बार नहीं मिलता। मीराँ इस असार संसार में सत्कर्म कर मनुष्यों को मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा देती हैं।

मीराँ का स्पष्ट मानना था कि मन की मैल धोए बिना, मात्र स्नान-तिलक करने से भक्ति का फल प्राप्त नहीं हो सकता। व्यक्ति को काम-क्रोध विषयासक्तियों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि उन्हें ईश्वर के अनुग्रह की प्राप्ति करनी है -

यहि विधि भक्ति कैसे होय।
मन की मैल हिय तैं न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।

मीराँबाई का आध्यात्मिक ज्ञान विशद था। अपने पूर्वकालीन भक्तों के नाम और सभी वृतान्त भक्तिमती मीराँ को विदित थे। वह लोक में संकीर्तन करते हुए औरों को भी उनसे परिचित कराती थीं और अपने मुरली मनोहर से उन्हीं की भाँति अपने भी उद्धार की विनती करती थीं। सतपुरूषों और संतों के दृष्टांत समाज के कल्याण हेतु दिशावाहक होते हैं। मीराँ एक पद में कहती हैं -

धना भक्त का खेत जमाया, कबिरा का बैल चराया।
शबरी का झूठा फल खाया, काज किये मन भाया।
सदना औ सेना नाई को, तुम लीन्हा अपनाई।
करमा की खिचड़ी खाई तुम, गणिका पार लगाई।

यह वस्तुतः भक्ति आंदोलन का ही प्रभाव था जिसने हिन्दू धर्म में व्याप्त जातिगत भेदभावों, ऊँच-नीच, अस्पृष्यता जैसी बुराइयों का विरोध कर सभी भक्तों को भगवान की दृष्टि में समान बताना शुरू किया था। भक्ति-आन्दोलन में एक प्रकार से नवीन सामाजिक चेतना के ही बीज छिपे हुए थे। सच्ची भक्ति मनुष्यों में जाति-वर्ग के भेदभाव की जगह एकता और बंधुत्व का ही संसार करती है। मीराँ जी ने भी जन-जन में एकता का भाव रोपकर उनका आत्मज्ञान ही नहीं, आत्मगौरव भी जगाया। दीन-दरिद्रों में व्याप्त हीनताबोध का परिहार किया। मीराँबाई के उपर्युक्त भजन में भी विभिन्न जाति-वर्ग के भक्तगण की महिमा का गान हुआ है। ईश्वर की दृष्टि में सभी मनुष्य एक समान है।

तीर्थों में भटकने वाले लोग आत्मज्ञान के अभाव में व्यर्थ में सारा जीवन भटकते हैं। मीराँ के अनुसार उनके गिरधर नागर की भक्ति का मार्ग सबसे सहज सुलभ है। श्रीकृष्ण की भक्ति की महत्ता प्रतिपादित करती मीराँ कहती हैं -

पानी में मीन पियासी, मोहे सुन-सुन आवत हाँसी।
आत्मज्ञान बिन नर भटकत है, कहाँ मथुरा कहाँ कासी।

अभिमान असफलता का मूल है। व्यक्ति को गर्व नहीं करना चाहिए उसका गर्व ही ले डूबता है। एक जगह वह रावण, इन्द्र आदि के प्रभु द्वारा गर्व हनन उदाहरण देती हैं। इसी पद में मीराँ सागर का जल खारा हो जाने का पौराणिक दृष्टांत देती हैं -

हरि से गरब किया सोई हारा।
गरब किया रतनागर सागर, जल खारा कर डाला।

मीराँ जब एक हाथ में अपना एकतारा और दूसरे में खड़ताल बजाकर हरि कीर्तन करतीं तो श्रोताओं की भीड़ उन्हें तन्मय होकर सुनती। लोग अपने दैनिक जीवन के दुख-कष्टों को भूल जाते। एक परम साध्वी दिव्य सौंदर्य एवं तेजोमय व्यक्तित्व को सन्मुख पाकर उसकी सिखावन में साधारण नर-नारियों को परम विश्रांति का अनुभव होता। मीराँ गातीं और वे झूम-झूम के सुनते -

नित न्हाने से हरि मिलै तो, जल जन्तु होई।
फल-फूल खाके हरि मिलै तो, बाँदर-बाँदरा होई।
तिरन भखन से हरि मिलै तो, बहुत मृगी अजा।

स्नेह छोड़के हरि मिलै तो, बहुत वत्स बाला।
मीराँ कहै बिन प्रेम के, नहीं मिले नँदलाला।

मीराँ की काव्योक्तियों का अर्थ ग्रहण करना प्रायः सभी के लिए सरल था। वह दूसरे कवियों की तरह कविता में बौद्धिक चमत्कार की पक्षधर न थीं। लक्षणा-व्यंजना से बचकर मीराँबाई प्रायः अभिधा शब्दशक्ति में ही सीधे-सीधे अपने उद्गार व्यक्त करती थीं। यहाँ भी वह पाखण्डों का उपहास करती दिखती हैं और श्रीकृष्ण को पाने का सरलतम उपाय लोगों को देती हैं - प्रेमाभक्ति। भगवान तो केवल प्रेम के भूखे हैं। अनेक संतों की भाँति मीराँ ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन भक्तिमार्ग में किया। परन्तु भक्तिमती मीराँबाई के अनुसार प्रभु श्रीकृष्ण के माधुर्यमय रूप में अटका प्रेम विहवल मन भी पूर्ण समर्पण माँगता है।

मीराँ जैसी आस्था, मीराँ जैसी भक्ति, मीराँ जैसी करूणा और मीराँ जैसा प्रेमभाव जिस मनुष्य में जग जाए वह मनुष्य जीते-जी जीवन मुक्त हो सकता है। मीराँ आजन्म इसी प्रयत्न में लगी रहीं। स्त्री-मुक्ति और सामाजिक-समरसता ये दो प्रमुख लक्ष्य मीराँ के सामाजिक सरोकारों का हिस्सा थे। कृष्ण भक्ति उन सरोकारों की सूत्रधार थी।

संत मीराँ अपने महागान के माध्यम से आज जन-जन में व्याप्त हैं। स्त्री-अस्मिता के लिए उनका प्रतिरोध और समाज उत्थान के प्रति मीराँ का दिव्य-भाव आज और अधिक प्रासंगिक है। मीराँबाई का जीवन-संघर्ष अद्भुत एवं अनुपमेय था। उनका अमर काव्य साहित्यपर्यन्त संसार और समाज को प्रेरणा देता रहेगा।

परिशिष्ट-(1)

संदर्भ-ग्रंथ

1. पीताम्बरा (उपन्यास) : भगवतीशरण मिश्र
2. मीरा चरित : सौभाग्य कुँवरी राणावत
3. मीरा माधव : सम्पादक - नन्दकिशोर आचार्य
4. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास : डॉ. प्रभुदयाल मीतल
5. राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा : सम्पादक - डॉ. जय सिंह नीरज एवं डॉ. भगवती लाल शर्मा
6. चौरासी वैष्णवन की वार्ता : सम्पादक - डॉ. कमला शंकर त्रिपाठी
7. मीराँबाई और मेड़ता : देवकिशन राजपुरोहित
8. भारत शिरोमणि महाराणा सांगा और भक्ति शिरोमणि युवरानी मीराँ : राजेन्द्र शंकर भट्ट
9. मीराँ और मीराँ : महादेवी वर्मा
10. मीराँबाई का ऐतिहासिक एवं प्रामाणिक जीवनवृत्त : प्रो. (डॉ.) कल्याणसिंह शेखावत
11. मीराँबाई की पदावली : सम्पादक- आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
12. संत मीराँबाई और उनकी पदावली : सम्पादक - डॉ. बलदेव वंशी
13. मीराँबाई की सम्पूर्ण पदावली : सम्पादक - डॉ. रामकिशोर शर्मा एवं डॉ. सुजीत कुमार शर्मा
14. मीराँबाई, प्रामाणिक जीवनी एवं मूल पदावली : ब्रजेन्द्रकुमार सिंहल
15. मीराँ का काव्य : विश्वनाथ त्रिपाठी
16. महादेवी वर्मा : डॉ. उपेन्द्र
17. भक्त मीराँ : जी.एस. आचार्य
18. कथा- पत्रिका, नई दिल्ली का मीराँबाई विशेषांक मई 2012 : सम्पादक- अनुज
19. मीरायन- पत्रिका, चित्तौड़गढ़ (विविध अंक) : सम्पादक- सत्य नारायण समदानी
20. रंग राची (उपन्यास) : सुधाकर अदीब

परिशिष्ट-(2)

मीराँ का जीवन-क्रम

1. मीराँ का जन्म- सन् 1504 ई. (विक्रम संवत् 1561)
2. पितामह राव दूदा का देहान्त - 1515 ई.
3. मीराँ का विवाह - 1516 ई.
4. पति भोजराज का निधन - 1523 ई.
5. पिता रतन सिंह राठौड़ की खानवा के युद्ध में वीरगति- 1527 ई.
6. श्वसुर महाराणा सांगा का देहान्त - 1528 ई.
7. देवर राणा रत्न सिंह का राज्यारोहण - 1528 ई.
8. राणा रत्न सिंह का निधन और राणा विक्रमादित्य का राज्यारोहण (भक्तिमती मीराँबाई के विरूद्ध प्राणघातक षड्यंत्र इसी देवर के द्वारा किए गए)- 1531 ई.
9. चित्तौड़ पर गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह का पहला हमला और संधि के बाद सुल्तान की गुजरात वापसी - 1532 ई.
10. मीराँबाई द्वारा चित्तौड़गढ़ का परित्याग और मेड़ता प्रस्थान - 1532 ई.
11. चित्तौड़गढ़ पर बहादुरशाह का दूसरा हमला और उसकी विजय- 1535 ई.
12. मीराँबाई का वृन्दावन के लिए प्रस्थान - 1538 ई.
13. मीराँबाई का द्वारका प्रस्थान - 1541 ई.
14. संत मीराँबाई का निर्वाण - सन् 1547 ई. (विक्रम संवत् 1604)

परिशिष्ट-(3)

मीराँ काव्यामृत

(1)

आली री मेरे नैना बान पड़ी।
चित चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, हिवड़े आन गड़ी।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, अपने भवन खड़ी।
अटक्यो प्राण साँवरा प्यारा, जीवन मूल जड़ी।
मीराँ गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहें बिगड़ी।

(2)

आवत मोरी गलियन में गिरधारी।
मैं तो छुप गई लाज की मारी।
कुसुमल पाग केसरियाँ जामा, ऊपर फूल हजारी।
मुकुट ऊपर छत्र बिराजे, कुण्डल की छबि न्यारी।।
केसरी चीर दरियाई को लहँगो, ऊपर अँगिया भारी।
आवत देखे कृष्ण मुरारी, छुप गईं राधा प्यारी।।
मोर मुकुट मनोहर सोहे, नथनी की छबि न्यारी।
गल मोतिन की माल बिराजे, चरण कमल बलिहारी।।
राधा प्यारी अरज करत है, सुणज्यो कृष्ण मुरारी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहारी।।

(3)

फागुन के दिन चार रे, होली खेल मना रे।
बिन करताल पखावज बाजै, अनहद की झनकार रे।
बिनु सुर राग छतीसूँ गावे, रोम रोम रंग सार रे।
शील सन्तोष की केसर घोली, प्रेम-प्रीत पिचकार रे।
उड़त गुलाल लाल भये बादल, बरसत रंग अपार रे।
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोकलाज सब डार रे।
होली खेल प्यारी पिय घर आये, सोइ प्यारी पिय प्यार रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहार रे।

(4)

बरसे बदरिया सावन की, सावन की मन भावन की।
सावन में उमग्यो मेरो मनवा, भनक सुनी हरि आवन की।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिशा से आया, दामिन दमकै झर लावन की।
नन्हीं नन्हीं बूँदन मेहा बरसे, शीतल पवन सोहावन की।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, आनन्द मंगल गावन की।

(5)

दरस बिन दूखन लागे नैन।
जब से तुम बिछड़े मोरे प्रभुजी कबहु न पायो चैन।
शब्द सुनत मेरी छातियाँ कंपै, मीठे लागे बैन।
एक टगटगी पंथ निहारूँ, भई छमासी रैंन।
बिरह बिथा कासूँ कहु सजनी, बह गयी करवत ऐन।
मीराँ के प्रभु कबर मिलोगे, दुख मेटन सुख दैन।

(6)

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट मेरे पति वोई।
शंख चक्र गदा पद्म कण्ठ माला सोई।
भगत देख राजी हुई जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेल बोई।
भाई छोड्या बन्धु छोड्या, छोड्या सगा सोई।
साधु सँग बैठ-बैठ लोक लाज खोई।
प्रेम की मथनिया कर जुगत सों बिलोई
दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोई।
अब तो बात फैल गई जाने सब कोई।
मीराँ हरि लगन लागी होनी हो सो होई।

(7)

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ।
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ।
रैन पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वा के संग खेलूँ, ज्यों त्यों ताहि रिझाऊँ।
जो पहरावे सोई पहरूँ, जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी, उन बिन पल न रहाऊँ।
जहाँ बिठावे ताहीं बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जाऊँ।

(8)

मैं तो साँवरे के रंग राची।
सजि सिंगार बाँध पग घुँघरू, लोक लाज तजि नाँची।
गई कुमति लई साधु संगति, भगत रूप भई साँची।
गाय-गाय हरि के गुन निस दिन, काल ब्याल सों बाँची।
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची।
मीराँ श्री गिरिधरन लाल सूँ, भगति रसीली जाँची।

(9)

मैं तो हरि चरणन की दासी, अब मैं काहे को जाऊँ कासी।
घट ही में गंगा, घट ही में जमना, घट-घट हैं अबिनासी।
घट ही में पुसकर औ लोधेश्वर, लछिमन कँवर बिलासी।
जगनाथ गंगासागर हैं, साखी गुपाल ब्रजबासी।
सेतुबन्ध रामेश्वर ईश्वर, मूल बटी सुरजा-सी।
अवधपुरी मधुपुरी द्वारका, चित्रकूट यमुना-सी।
गोवरधन गोकुल वृन्दावन, बीच मण्डल चौरासी।
हरिद्वार कुरूखेत जनकपुर, गोदावरी हुलासी।
तीरथ बड़े प्रयाग गया जी, कासी तरूवर वासी।
बिंध्याचल रू ग्रिनार रंग हैं, सुघर कपिल दुखवासी।
बदरीनाथ केदार गंगोतरि, बैजनाथ कैलासी।
पंचवटी पम्पापुर रूक्मिणि, देव कपिल युवरासी।
नैमषार श्रृंगी रिष मिसरिष, कासी पाप-बिनासी।
मटुकनाथ अरू मानसरोवर, मानलता अरू हाँसी।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, सहज कटै यम फाँसी।

(10)

चलो मन गंगा जमुना तीर।
गंगा जमुना निरमल पाणी, सीतल होत सरीर।
बंसी बजावत गावत कान्हो, संग लिया बलबीर।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहे, कुण्डल झलकत हीर।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, चरण कँवल पै सीर।

(11)

बसो मेरे नैनन में नंदलाल।
मोहनि मूरत साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती माल।
क्षुद्र घण्टिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीराँ के प्रभु संत सुखदाई, भक्त बछल गोपाल।

(12)

जागो वंशीवारे लाला, जागो म्हारे प्यारे।
रजनी बीती भोर भयो है, घर-घर खुले किवारे।
गोपी दही मथत सुनियत हैं, कँगणा के झणकारे।
उठो लाल जी भोर भयो है, सुर नर ठाढ़े द्वारे।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल, जय-जय सबद उचारे।
माखन रोटी हाथ में लीनी, गउवन के रखवारे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, सरण आयाँ कूँ तारे।

(13)

आली मोहि लागत बृंदावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दर्शन गोविन्द जी को।
निर्मल नीर बहत जमुना को, भोजन दूध दही को।
रत्न सिंघासन आप विराजे, मुकुट धर्‌यो तुलसी को।
कुंजन कुंजन फिरत राधिके, शब्द सुनत मुरली को।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, भजन बिना नर फीको।

(14)

म्हारो परनाम बाँके बिहारी जी।
मोर मुकुट माथ्याँ तिलक बिराज्याँ,
कुण्डल अलकाँ धारी जी।
अधर मधुर धर वंशी बजावाँ,
रीझ रिझावाँ राधा प्यारी जी।
या छब देख्याँ मोह्‌याँ मीराँ,
मोहन गिरवरधारी जी।

(15)

मन रे परस हरि के चरण।
सुभग शीतल कमल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिन चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिन चरण ध्रुव अटल कीने, राखि अपनी शरण।
जिन चरण ब्रह्माण्ड भेट्‌यो, नख शिखौ श्री भरण।
जिन चरण काली हि नाथ्यो, गोप लीला करण।
जिन चरण धार्‌यो गोवर्धन, गरब मधवा हरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर, अगम तारण तरण।

(16)

भज मन चरण कँवल अबिनासी।
जेताई दीसे धरनि गगन बिच, तेताइ सब उठि जासी।
कहा भयो तीरथव्रत कीन्हें, कहा लिए करवत कासी।
इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी।
यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठि जासी।
कहा भयो है भगवा पहर्याँ, घर तज भये संन्यासी।
जोगी होय जुगति नहिं जानी, उलटि जनम फिर आसी।
अरज करौं अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी।

(17)

महाँनै चाकर राखो जी, गिरधारी लाला चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ, नित उठ दरसण पासूँ।
बृन्दावन की कुंज गलिन में, गोविन्द का गुण गासूँ जी।
चाकरी में दरसन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची।
भाव भक्ति जागीरी पाऊँ, तीनो बाताँ सरसी जी।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला।
बृन्दावन में धेनु चरावै, मोहन मुरलीवाला जी।
जोगी आया जोग करन कूँ, तप करने संन्यासी।
हरी भजन को साधू आये, बृन्दाबन के बासी जी।
मीराँ के प्रभु गहिर गँभीरा, हृदै रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दर्शन दीज्यो, प्रेम-नदी के तीरा जी।

(18)

पग घुंघरू बाँध मीराँ नाची रे।
मैं तो अपने नारायण की, हो गई आप ही दासी रे।
लोग कहें मीराँ भई बावरी, न्यात कहें कुल नासी रे।
विष का प्याला राणा जी भेज्या, पीवत मीराँ हाँसी रे।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, वेग मिलो अविनासी रे।

(19)

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिखियो न जाय।
कलम धरत मेरो कर काँपत है, नयनन हैं झर लाय।
बात कहूँ तो कहत न आवै, जीव रह्यो डर राय।
हमरी बिपत तुम देख चले, ऊधो हरि जी सूँ कहियो जाय।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, दरसन दीज्यो जाय।

(20)

हे री मैं तो दरद दीवानी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विध सोना होय।
गगन मंडल पे सेज पिया की, किस विध मिलना होय।
घायल की गत घायल जाने, के जिन घायल होय।
जौहरि की गत जौहरि जाने, के जिन जौहरि होय।
दरद की मारी बन बन डोलूँ, वैद मिल्यो नहिं कोय।
मीराँ के प्रभु पीर मिटेगी, जब वैद सांवलिया होय।

(21)

पायो जी मैंने राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरू, किरपा कर अपनायो।
जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सभी खोवायो।
खरचै नहि कोइ चोर न लेवे, दिन दिन बढ़त सवायो।
सत की नाव खेवटिया सतगुरू, भवसागर तर आयो।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरष हरष जस गायो।

(22)

माई री मैं तो लीनो गोविन्दो मोल।
कोई कहै छाने कोई कहै छुपकै, लियो री बजंता ढोल।
कोई कहै मँहगो कोई कहै सोंधो, लियो री तराजू तोल।
कोई कहै कारो कोई कहै गोरो, लियो री अमोलक मोल।
याही कूँ सब जग जाणत हैं, लियो री आँखी खोल।
मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, पूरब जनम को कोल।

(23)

पिया बिन सूनो छै म्हारौ देस।
ऐसो नी कोइ पीव मिलावै, तन मन वारूँ असेस।
थारे कारण बन-बन डोलूँ, ले जोगण रो भेस।
अवधि बदीती अजहूँ न आए, पंडर हो गया केस।
मीरा रे प्रभु कब रे मिलोगे, तज दियो नगर नरेस।

(24)

हरि तुम हरो जन की पीर।
द्रौपदी की लाज राखी, तुम बढ़ायो चीर।
भक्त कारण रूप नरहरि, धर्‌यो आप सरीर।
हिरन कश्यप मार लीनो, धार्‌यो नाहिन धीर।
बूड़ते गज ग्राह मारयो, कियो बाहर नीर।
दासि मीराँ लाल गिरधर, दुःख जहाँ तहाँ पीर।

(25)

करमन की गत न्यारी संतो, करमन की गत न्यारी।
बड़े-बड़े नयन दिये मिरगन को, बन बन फिरत उधारी।
उज्ज्वल बरन दीनी बगलन को, कोयल कर दीनी कारी।
और नदियन जल निर्मल कीनी, समुंदर कर दीनी खारी।
मूरख को तुम राज दियत हो, पंडित फिरत भिखारी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, राणो जी तो कौन बिचारी।

(26)

मीराँ मगन भई हरि के गुण गाय।
साँप पिटारा राणा भेज्यो, मीराँ हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गई पाय।
जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय।
हाथ धोय जब पीवण लागी, हो गई अमर अँचाय।
सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीराँ सुलाय।
साँझ गई मीराँ सोवण लागी, मानो फूल बिछाय।
मीराँ के प्रभु सदा सहाई, राखे बिघन हटाय।
भजन भाव में मस्त डोलती, गिरधर पर बलि जाय।

(27)

सुण लीज्यो बिनती मोरी, मैं शरण गही प्रभु तोरी।
तुम तो पतित अनेक उधारे, भवसागर से तारे।
मैं सबका तो नाम न जानूँ, कोई कोई नाम उचारे।
अम्बरीष सुदामा नामा, तुम पहुँचाये निज धामा।
ध्रुव तो पाँच बरस के बालक, दरश दिये घनश्यामा।
धना भक्त को खेत जमाया, कबिरा का बैल चराया।
शबरी का झूठा फल खाया, काज किये मन भाया।
सदना औ सेना नाई को, तुम लीन्हा अपनाई।
करमा की खिचड़ी खाई तुम, गणिका पार लगाई।
मीराँ प्रभु तुमरे रँगराती, जानत सब दुनियाई।

(28)

पानी में मीन पियासी, मोहे सुन-सुन आवत हाँसी।
आत्मज्ञान बिन नर भटकत है, कहाँ मथुरा कहाँ कासी।
भवसागर सब हार भरा है, ढूँढत फिरत उदासी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, सहज मिले अबिनासी।

(29)

राय श्री रणछोड़ दीज्यो, द्वारका को वास।
संख चक्र गदा पद्म दरसै, मिटै जम की त्रास।
सकल तीरथ गोमती के, रहत नित्त निवास।
संख झालर झाँझ बाजै, सदा सुख की रास।
तज्यो देस रू बेस हूँ तजि, तज्यौ राना राज।
दासि मीराँ सरन आवत, तुम्हें अब सब लाज।

(30)

ओढूँ लज्या चीर, धीरज को घाघरो।
समता काँकड़ हाथ, सुरति कौ मूँदड़ौ।
अँगिया है बिसवास, चूड़ो चित ऊजलौ।
दुलड़ी दिल दरियाव, साँच को दोवड़ो।
दाँता इम्रत-मेख, दया को बोलबौ।
उबटणौं गुरूज्ञान, ध्याँन को धोइबौ।

(31)

हरि से गरब किया सोई हारा।
गरब किया रतनागर सागर, जल खारा कर डारा।
गरब किया लंकापति रावण, टूक टूक कर डारा।
गरब किया चकवे चकवी ने, रैन बिछोहा छारा।
गरब किया बन की चिरमी ने, मुख कारा कर डारा।
इन्दर कोप किया ब्रज ऊपर, नख पर गिरवर धारा।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, जीवन-प्राण हमारा।

(32)

नित न्हाने से हरि मिलै तो, जल जन्तु होई।
फल-फूल खाके हरी मिलै तो, बाँदर-बाँदरा होई।
तिरन भखन से हरी मिलै तो, बहुत मृगी अजा।
स्नेह छोड़के हरी मिलै तो, बहुत वत्स बाला।
मीराँ कहै बिन प्रेम के, नहीं मिलै नँदलाला।

(33)

करना फकीरी क्या दिल गीरी, सदा मगन मन रहना जी।
कोई दिन बाड़ी तो कोई दिन बँगला, कोई दिन जंगल रहना जी।
कोई दिन हाथी कोई दिन घोड़ा, कोई दिन पाँवों से चलना जी।
कोई दिन गादी कोई दिन तकिया, कोई दिन भूमि में पड़ना जी।
कोई दिन खाना तो कोई दिन पीनाँ, कोई दिन भूखे ही मरना जी।
कोई दिन पहनाँ तो कोई दिन ओढ़ा, कोई दिन चिथरा पथरना जी।
मीराँ कहै प्रभु गिरधर नागर, ऐसा कूँता करना जी।

(34)

नमो नमो तुलसी महारानी, नमो नमो हरि की पटरानी। (टेर)
जाके दरस परस अघ नासे, महिला वेद पुराण बखानी।
साखा पत्र मंजरी कोमल, श्रीपति चरण कमल लपटानी।
धन तुलसी पूरब तप कीन्हाँ, सालिगराम भई मनमानी।
छप्पन भोग धरे हरि आगे, बिन तुलसी प्रभु एक न मानी।
धूप दीप नैवेद्य आरती, पुष्पन की बरषा बरषानी।
प्रेम प्रीति करि हरि बस कीन्हें, साँवरी सूरत हृदै समानी।
शिव सनकादिक अरु ब्रह्मादिक, खोजत फिरे महाज्ञानी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, भक्ति दान दीजे महारानी।

(35)

मेरो कोई नहिं रोकणहार, मगन होय मीराँ चली।
लाज सरम कुल की मरजादा, सिर से दूर करी।
मान अपमान दोऊ धर पटके, निकली हूँ ज्ञान गली।
ऊँची अटरिया लाल किंवड़िया, निरगुण सेज बिछी।
पचरंगी झालर सुभ सोहैं, फूलन फूल कली।
बाजूबन्द कडूला सोहे, माँग सिन्दूर भरी।
सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा, सोभा अधिक भली।
सेज सुखमणा मीराँ सोवै, धन सुभ आज घरी।
तुम जावो राणा घर अपने, मेरी तेरी नाहिं सरी।

(36)

सैयाँ! मैं गिरधर के रंग राती।
पचरंग चोला पहर सखी री मैं, झिरमिट रमवा जाती।
झिरमिट में मोहे मोहन मिलियो, खोय मिली तन दाती।
कोई के पिया परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजे पाती।
मेरे पिया मेरे हिया बसत हैं, ना कहुँ आती जाती।
जाऊँ ना पीहरिये जाऊँ ना ससरिये, हरि सूँ सैन लगाती।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरि चरण्याँ चित लाती।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
महाकवि अमीर खुसरो	अनु. अब्दुल सत्तार	100.00
साहित्य मनीषी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	डा. रामचन्द्र तिवारी	60.00
भारतेन्दु बाबू हरिष्चन्द्र का जीवन चरित्र	राधा कष्ण दास	48.00
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन	सम्पा. स्व. श्री कमलापति मिश्र	125.00(60%)
हरिश्चन्द्र	बाबू शिवनन्दन सहाय	100.00
बंशीधर शुक्ल रचनावली	सम्पा. डॉ. श्यामसुन्दर मधुप	378.00(60%)
आचार्य किशोरीदास वाजपेई	सम्पा. डा. मंजु लता तिवारी	200.00(60%)
गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'	सम्पा. डॉ. लक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक'	165.00(60%)
गोस्वामी तुलसीदास	डॉ. रामचन्द्र तिवारी	50.00
रामचंद्र शुक्ल	सम्पा. प्रो. सत्यदेव मिश्र	15.00
राष्ट्रकवि सोहन लाल द्विवेदी	डॉ. राष्ट्रबन्धु	40.00
चंदवरदाई	डॉ. सुमन राजे	50.00
कविवर सुमित्रानन्दन पंत	डॉ. सुरश चन्द्र गुप्त	52.00
कथाकार यशपाल	डॉ. मनमोहन सहगल	70.00
सुभद्रा कुमारी चौहान	डॉ. प्रतीक मिश्र	55.00
भगवती चरण वर्मा : एक व्यक्तित्व–चित्र	ज्ञान चन्द्र जैन	70.00
अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	डॉ. कन्हैया सिंह	43.00
मैथिलीशरण गुप्त	डॉ. प्रभाकर शुक्ल	50.00
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी	डॉ. रामेन्द्र पाण्डेय	50.00
सेनापति	डॉ. अनन्त राम मिश्र 'अनन्त'	75.00
गुरु नानक देव	डॉ. मनमोहन सहगल	90.00
लक्ष्मीकांत वर्मा	डॉ. राजकुमार शर्मा	140.00
विजय सिंह 'पथिक'	राजकुमार भाटी	77.00
महादेवी वर्मा	डॉ. उपेन्द्र	70.00
राष्ट्रकवि दिनकर	डॉ. यतीन्द्र तिवारी	65.00

सम्पर्क सूत्र
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226001

ISBN : 978-93-82175-89-6

मूल्य रु. 100=00